जन्तु बिल कैसे बनाते हैं?

[अपने रहने या शिशु उत्पन्न करने के लिए जन्तुओं द्वारा विविध प्रकार के बिल बनाने का वर्णन]

लेखक

जगपति चतुर्वेदी, सहा० सम्पादक 'विज्ञान'

कि ता ब म ह ल

इ ला हा बा द

प्रथम संस्करण, १९५५

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७, जीरो रोड, इलाहाबाद।

दो शब्द

आज से लगभग ३० वर्षों पूर्व संवत् १६८१ (१६२४ ई०), में विज्ञान परिषद् प्रयाग से प्रकाशित मासिक 'विज्ञान' के लिए विख्यात जन्तु-शास्त्री वूड की पुस्तक "होम्स विदाउट हैंड्स" के आधार पर कुछ लेख जंतुओं द्वारा बिल बनाने के संबंध में लिखने का अवसर मिला था। वह हमारा प्रथम साहित्यिक प्रयास ही था जिसके लिए मैं भूतपूर्व 'विज्ञान' सम्पादक प्रो० गोपाल स्वरूप जी भार्गव का अत्यन्त आभारी हूँ। आज इतनी अवधि के पश्चात् जब मैंने किताब महल के अध्यक्ष श्री० श्री निवास जी अग्रवाल से जानवरों के बिल, घोंसले या अन्य रूप के गृह-निर्माण पर पुस्तक लिखकर अपनी इस 'सरल विज्ञान-पुस्तकमाला' में प्रकाशित कराने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने बड़ी ही प्रसन्नता से इस प्रस्ताव को स्वीकार किया तथा यह भी उद्गार प्रकट किया कि जंतुओं के घर बनाने के संबंध में हिन्दी में अभी कुछ भी नहीं लिखा गया है। इस लिए इस विषय पर पुस्तकें छपनी चाहिए। फलतः तीन पुस्तकें छप रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के कई शीर्षक, जैसे लोमड़ी, दिवांधिका या गंधमुखी तथा नियामक पिपीलिका 'विज्ञान' में १६२४ में छपे थे। उन्हें इस पुस्तक में सन्निविष्ट कर पुस्तक रूप में छपा देखकर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है; अँग्रेजी में तो इस तरह का साहित्य यथेष्ट सुलभ है, परन्तु हिन्दी में कदाचित ये पुस्तकें इस विषय की पहली ही हैं। हम आशा करते हैं कि भविष्य में हमारे वैज्ञानिक मौलिक पर्यवेक्षण कर इन विषयों पर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रचुर साहित्य पाठकों तक पहुँचाकर उनके ज्ञान वर्द्धक तथा मनोरंजक होंगे।

जगपति चतुर्वेदी

स्तनपोषी जन्तुओं के बिल

श्वान-शशक (प्रेरी डाग)

विवर बनाकर रहने वाले जन्तुओं में अमेरिका के शशक समान एक जन्तु की भी गिनती है जिसे श्वान-शशक कह सकते हैं। यह प्रेरी या घास के मैदानों में पाया जाता है तथा शिशु कुत्ते की तरह भोंकता है। इसलिए अमेरिका में इसे प्रेरी डाग नाम से पुकारा जाता है। इस जाति के समान ही उत्तरी योरप और साइबेरिया के स्टेपी प्रदेश में जन्तु पाये जाते हैं। उन्हें 'सुसलिक' नाम दिया गया है। प्रेरी डाग और सुसलिक दोनों ही जाति के जन्तु उपनिवेश रूप में भारी संख्या में एक क्षेत्र में विवर बनाकर रहते हैं। ये दोनों बहुत शीघ्र तथा भलीभाँति बिल खोद सकते हैं। इनका आहार घास है। इनके विवर के पास नीचे से खोदकर फेंकी हुई मिट्टी से छोटा भींटा-सा बना होता है। बिल के बाहर आकर इस भींटे पर वे गिलहरी की भाँति सीधे खड़े हो जाते मिलते हैं। चारों ओर दृष्टि डालकर कदाचित् शत्रु के आगमन की टोह लेते रहते हैं। कोई आगंतुक आते ही शीघ्र अपनी विवर में घुस जाते हैं। वहाँ पर उन्हें चैन से एक क्षण भी चुप नहीं बैठा जाता। अपनी चपल वृत्ति के कारण तुरन्त ही विवर के छिद्र से मुख निकाल कर झाँकने और ठीक परिस्थिति समझने का प्रयत्न करने लगते हैं। इस चपलता के कारण शिकारी उनको गोली से मारकर सहज शिकार बना सकते हैं।

प्रेरी डाग और सुसलिक एक-सी वृत्ति के होते हैं। इनका रंग खाकी होता है। बलुही भूमि पसंद करते हैं जिससे उसमें सहज बिल बना सकें। हिमपात का अवसर होने पर ऐसी भूमि बहुत कठोर भी नहीं होती।

प्रेरी डाग उत्तेजना के समय शिशु श्वान की तरह भौंकता भी है। प्रतिदिन वह शयन के लिए बिछाई घास को बिल से बाहर फेंक आता है तथा नई घास छोटे-छोटे टुकड़ों में काट-काटकर बिल के अन्दर सोने के लिए बिस्तर बनाने के लिए पहुँचाता है। यह अपने उपनिवेश के विवरों के मध्य-स्थानों से घास लेकर खाता है। विवर से कभी भी बहुत दूर नहीं जाता। जब कुछ काम न हो तो प्रेरी डाग या तो बिल ही खोदते रहने में संलग्न रहता है या घास, या अन्य सुलभ वस्तुएँ ही बिस्तर बनाने के लिए छोटे खंडों में काटता रहता है। अल्पायु प्रेरी डाग चूहे से बड़ा नहीं होता।

पेरी डाग छोटे कान, छोटी पूँछ तथा गोल मुँह का जन्तु है यह अमेरिका में मोंटाना से एरिजोना तथा उत्तरी डकोटा से टैक्सा तक पाया जाता है। एक प्रकार का प्रेरी डाग उजली छोरयुक्त पूँछ का मैदानी जन्तु है किन्तु दूसरी प्रकार का प्रेरी डाग पहाड़ी होता है जिसके मुख पर गहरे रंग के चिन्ह होते हैं और पूँछ की छोर का अधिक भाग काला होता है।

प्रेरी डाग समाजप्रिय जन्तु है। इनके भींटों से प्रगट होनेवाले विवर सपाट मैदान में मीलों तक दिखाई पड़ते हैं। परन्तु ऐसे उपनिवेश या जन्तु-नगरों का प्रसार २५००० वर्ग मील तक के क्षेत्र में प्रसारित भी उल्लिखित मिलता है जिसमें करोड़ों प्रेरी डाग रहते हों। मई मास में एक बार में आठ शिशु तक उत्पन्न होते हैं।

प्रेरी डाग किसी आगंतुक के आने पर वन्य अवस्था में जिस प्रकार शिशु श्वान-सा भौंक कर दल के अन्य सदस्यों को बिल में

घुस जाने की सूचना देता है, उसी प्रकार बन्दी अवस्था में भी

प्रेरी डाग के बिल और भींटे

कठघरे की छड़ के निकट दर्शक के हाथ ले जाने पर उत्तेजित होकर भौंकने लगता है।

प्रेरी डाग का विवर यथेष्ट बड़ा होता है। एक जगह बस जाने पर उसकी सन्तान तो वेग से बढ़ती जाती है और अपने-अपने बिल के मुख के पास खोदी मिट्टी के ढूहे से बनाकर ये विस्तृत मैदानों को अधिकृत कर लेते हैं, किसी घोड़े को उस क्षेत्र की पोली भूमि में चलना असंभव हो सकता है। बिलों की गहराई भी बहुत होती है। एक बिल में पाँच बड़े पीपों का पानी गिराने पर भी कुछ पता नहीं चल सकता। कुछ भूमि सोख ले सकती है, कुछ बिलों की गहराई लुप्त कर लेती होगी। ये विवर भूतल से नीचे तिरछी गहराई में धरातल से अर्द्ध समकोण बनाते हुए खुदे होते हैं। पाँच-छः फुट गहराई तक जाने के बाद वे अकस्मात मुड़ते हैं और धीरे-धीरे ऊपर की ओर जाने लगते हैं। एक-दूसरे के निकट ऐसे हजारों विवर खुदे होते हैं, परन्तु एक-दूसरे से सम्मिलित नहीं होते।

प्रेरी डाग के उपनिवेश या नगर में जाकर उसकी झाँकी लेना मनोहर दृश्य होता है। ढूहे पर से तो वह बहुसंख्यक रूप में दूर तक देखता ही है, बिल में घुसकर भी विवर-द्वार से झाँकता दर्शक के कौतूहल का कारण होता है। विवर-द्वार से झाँकने पर गोली का शिकार होने पर भी यह अपने प्राण उस स्थिति तक नहीं छोड़ता जब तक कि उसका मुख पूर्णतः भग्न न हो चुका हो। कुछ ही अंश भग्न होने पर तो वह बिल में अवश्य ही वेगपूर्वक घुस ही जाता है।

एक दुखद घटना होती है। प्रेरी डाग के परिश्रम से बनाये विवर में एक विवरवासी उलूक प्रवेश कर कभी-कभी रहने लगता है किन्तु झनझनिया साँप भी प्रवेश कर इन दोनों को हड़प कर

जाता है। इस साँप के पेट से प्रेरी डाग का समूचा शरीर जीवित रूप में प्राप्त किया जा सकता है।

प्रेरी डाग के विवर में प्रविष्ट झनझनियाँ साँप को तुरन्त चीर कर जब जीवित रूप में ही प्रेरी डाग प्राप्त किया जा सका तो उसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि यह साँप उसे विषदंश नहीं करता, बल्कि निगल जाया करता है। ऐसे भयानक अतिथि को पाकर प्रेरी डाग अपना सर्वनाश होने का अवसर प्राप्त करता है। जब कभी झनझनियाँ साँप उसके बिल में प्रवेश करता है, प्रेरी डागों को अवश्य निगल जाता है। इसीलिए उसका उदर चीरने पर उनके शव बराबर पाए जाते हैं।

झनझनियाँ साँप एक तरह का ऐसा साँप होता है जिसकी पूँछ में छल्ले बने होते हैं। उनके द्वारा झनझन का शब्द होता है। यह ठीक पता नहीं कि वे छल्ले किस उपयोग के हैं या क्यों उत्पन्न होते हैं। जनश्रुति ऐसी है कि जब कभी यह किसी व्यक्ति को काट खाता है, एक नया छल्ला उत्पन्न हो आता है। दूसरी धारणा यह भी हो सकती है कि प्रतिवर्ष आयुवृद्धि के साथ एक-एक छल्ला अधिक उत्पन्न होता जाता है परन्तु ये दोनों ही मन्तव्य प्रयोगों द्वारा मिथ्या सिद्ध हुए। जन्तुशाला में बन्दी बनाए एक झनझनियाँ साँप को एक वर्ष में तीन-तीन छल्ले उत्पन्न करते देखा गया परन्तु किसी दूसरे झनझनियाँ को तीन वर्षों में केवल एक छल्ला बनाते देखा गया। यह उनकी व्यक्तिगत वृत्ति तथा सामर्थ्य की बात होगी।

प्रेरी डाग के विवर में विवरवासी उल्लू के पहुँचने के कारण को बता सकना कठिन ही है। हो सकता है कि वह उसके अन्डों-बच्चों को अवसर पाकर खा जाता है। परन्तु कोई प्रमाण सुलभ नहीं ज्ञात होता। झनझनियाँ साँप उल्लू को भी खा जाने में कुछ हिचक नहीं दिखा सकता। अतएव वह प्रेरी डाग का बलात् अतिथि

बनने पर इस प्रबलतर अतिथि झनझनियाँ साँप द्वारा निगल लिया
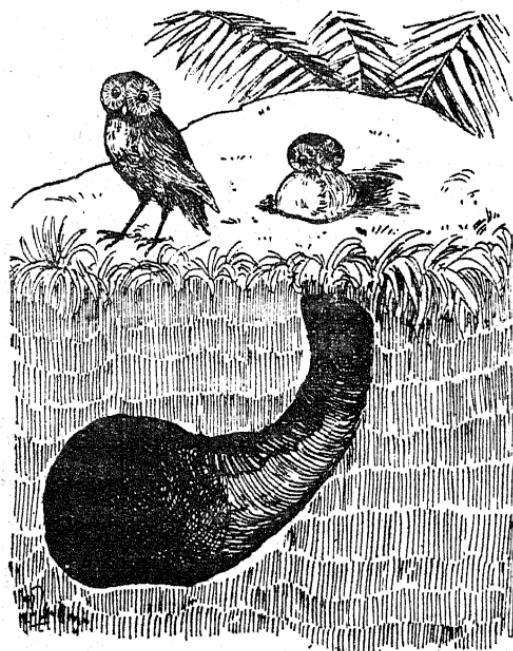
विवरवासी उल्लू

जाता है। ये दोनों ही जन्तु सभी प्रेरी डागों के बिलों में नहीं पाए जाते। परन्तु बहुतेरे बिलों में ये पाए जाते हैं। बिल पर अधिकार कर कभी-कभी उल्लू उसी में अड्डा जमा लेता है।

बिलस्थ शशक (रैबिट)

खरगोशों की भारतीय जातियाँ मैदानों में रहती हैं। छिपने के लिए लम्बी घासों के अतिरिक्त लोमड़ियों के खाली बिल भी उसे ज्ञात रहते हैं। सूँघ कर वह ऊपर से ही जान सकता है कि बिल

में उसका स्वामी जन्तु रहता है या नहीं। कान लम्बे होने से लम्ब-कर्ण नाम ही पड़ा है। पिछले पैर बड़े होने पर सारी खरगोश (शश) जाति ही उचक-उचक ही कर भागती है। एक भारतीय जाति के शश को सिर से निश्चितपूर्वक छोटे आकार के कानों युक्त पाया जाता है जो हिमालय की तराई में दक्षिण में ढाका तक मिलता है। इसकी वृत्ति विवर बनाने की पाई जाती है किन्तु यह समाज या झुंड में उपनिवेश स्थापित कर नहीं रहता। इस जाति के शश को उन पाश्चात्य जातियों के जन्तु का समकक्ष माना जा सकता है जिन्हें रैबिट नाम दिया जाता है। यथार्थत: इन्हें विशेष रूप से बिल में रहनेवाला या विलेशय शशक कह सकते हैं। साधारण रूप के मैदानी भाग में रहने वाले खरगोशों के पैर बड़े होते हैं अतएव उन्हें लम्बपदी शश कह सकते हैं। विलेशय शश (रैबिट) के पैर साधारण खरगोशों (या हेअर) से छोटे भी होते हैं। अतएव उन्हें पृथक रूप में आकार तथा स्वभाव के कारण पहचाना जा सकता है।

योरोपीय या पाश्चात्य शशकों की विवरवासिनी जातियों (रैबिट) की अनेक नस्लें होती हैं। ये जन्तु विवरों में रहते हैं। इनमें समाजप्रियता होती है। बहुसंख्यक विवर एक स्थान पर बने मिलते हैं। उस स्थान को शशक-उपनिवेश (वैरेन) कहते हैं। जहाँ कहीं भी ये विलेशय या विवर-वासी जन्तु उपयुक्त स्थल पाते हैं जहाँ बिल खोद सकने योग्य बलुही भूमि हो तथा निकट के स्थानों में भोजन की भी प्रचुरता हो, वहाँ ये अपने विवर बनाते हैं। जिस बलुही या कङ्कड़ीली भूमि में कँटीली झाड़ियाँ उगी होती हैं, वहाँ ही ये शशक अपने विवर बहुसंख्यक खोदते हैं।

ऐसे स्थानों में बिल खोदने में सुविधा होती है। मिट्टी सहज खुद जाती है, कँटीली झाड़ी के किशलय भोजन के काम आते हैं।

उसकी झाँखड़ी जड़ें बिल की रक्षा में सहायक होती हैं, ऊपर की कटीली डालें विवर का द्वार अदृश्य रख कर अपने काँटों से उसको दुर्गम बनाए रखती हैं।

एक बार बस जाने पर विवरवासी शशक अपनी तीव्र सन्तान-वृद्धि से चूहे-चूहियों की संख्या-वृद्धि से होड़ ले सकते हैं। सारी निकटवर्ती भूमि बिलों की सुरंगों से बहुछिद्रित-सी बन जाती है। कुशल यही होती है इसका मांस सुस्वाद होता है जिससे मनुष्यों द्वारा इनका शिकार होता है। खाल भी बिकती है। बाज (श्येन), वीजेल तथा स्टोट भी इन्हें खाते रहते हैं। अतएव इनकी संख्यातीत वृद्धि अवरुद्ध होती रहती है।

अनेक बाधाओं के होने पर भी अपनी संख्या वृद्धि के अवसर रैबिटों को प्राप्त होते हैं तो वे बड़े कष्ट के कारण हो सकते हैं। कहीं-कहीं ये विवरवासी शशक इतने बढ़ जाते हैं कि भूमि में इनके बिलों का जाल बिछ जाने से वहाँ स्थित भवनों की नीव हिल उठने की आशंका पैदा होती है। नीव के अंदर इनके विवर पहुँच गए होते हैं। कहीं पर मारने का भी प्रयत्न किया जाय तो दो-तीन-चार बच-खुच कर भी भाग निकलने वालों में यदि नर और मादा का एक जोड़ा भी हो तो फिर देखिए कि ये कितनी शीघ्रता से बढ़ कर पुनः थोड़े समय में ही बहुसंख्यक बन जाते हैं। इनकी संतान इतनी शीघ्र उत्पन्न होकर विकसित होती है कि एक वर्ष के अंदर ही एक मूल जोड़े की तीसरी पीढ़ी जन्म धारण कर चुकी होती है।

अधिकांश विलेशय (बिल में रहने वाले) जन्तुओं में यह देखा जाता है कि वे रहने के लिए जो विवर बनाए होते हैं उससे भिन्न उनकी शिशुशाला (जन्म-विवर) का प्रबंध होता है। विलेशय शशक में भी ऐसी ही वृत्ति देखी जाती है। वह छोटे जनन-गृह के लिए एक एकान्त शान्त स्थल ढूँढ़ता है। जिन विवरों में विलेशय शशकों

के उपनिवेश का निवास होता है उनमें वह जनन कार्य नहीं करता बल्कि एक असम्बद्ध पृथक विवर ही बनाता है जिसके अंत में मादा शिशु उत्पन्न करती है।

जनन-गृह घोंसले सा सज्जित किया जाता है। उसकी सतह पर सुन्दर कोमल और उत्तम रोम की तह बिछी होती है। वह नर्म रोम उसके शरीर के ऊपरी बालों के नीचे छोटे तथा कोमलतर रूप में उत्पन्न उपरोम या आंतरिक रोम (डाउनी) होता है। ऐसे दोहरे रूप के रोम या बाल अनेक पशु पक्षियों के शरीर में उत्पन्न पाए जाते हैं। माता शशक अपने वक्षस्थल पर से आन्तरिक कोमल रोमों को नोच-नोचकर अपनी नवजात संतान के लिए बिछौना बनाए होती है। ये रोम यथेष्ट बड़े गुच्छे रूपों में होते हैं। कोई भी विलेशय शशक को पालने वाला व्यक्ति उसको अपने शिशु के लिए कोमल पालना बनाने के लिए अध्यवसायपूर्वक वक्षस्थल के कोमल आंतरिक रोमों को नोचते देख सकता है। संसार में माता का अपनी संतान के लिए ऐसा ही अपार स्नेह होता है जिसके लिए वह कुछ भी त्याग करने के लिए प्रस्तुत रहती है।

विलेशय शशक की मादा को संतान के लिए रोमीय पालना बनाने के लिए वक्षस्थल के कोमल रोम नोचने की क्रिया पर्यवेक्षकों के अत्यन्त प्रशंसा का कारण हो सकती है। दर्शक या पाठक उसके अपूर्व त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा कर सकते हैं। यथार्थ में अनेक लेखकों ने उसके त्याग की महिमा का बहुत ही बखान भी किया है। किन्तु जंतुशास्त्री हमें इस पहलू पर दूसरे रूप में अपना मन्तव्य सुनाते हैं। माता शशक ही नहीं, अनेक अन्य जन्तुओं को ऐसी क्रिया करते पाया जाता है। पक्षियों में तो ऐसा अनेक उदाहरण देखा जाता है। कुछ पशुओं में भी कदाचित ऐसी वृत्ति हो। इन सब में माता के अपार स्नेह के संबंध में तो किसी को कुछ

कहना ही नहीं हो सकता। परन्तु शिशु के पालन-पोषण के लिए अपने अंग को ध्वस्त करने के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद हो सकते हैं।

पक्षियों में प्रति वर्ष पुरातन पतत्र (पर) गिरा कर नए पतत्र उत्पन्न करने की क्रिया पुनरावृत्त होती है। यह पर झाड़ना कहलाता है। जीवन-संघर्ष में शरीर के क्षत-विक्षत होने के अनेक अवसर होते हैं। पक्षी के पर या पतत्र भी ध्वस्त हो सकते हैं। पंख के बड़े पतत्र भी भग्न हो सकते हैं। विघ्न-बाधाएँ तो प्रतिदिन पड़ती हों और उनके अंगों के विकृत होने के आए दिन अवसर आते हों परन्तु उनकी रचना जीवन के आरंभ काल में एक बार ही होने की व्यवस्था हो तो बेचारे पक्षियों को अपना सारा जीवन पंगुल सा ही व्यतीत करना पड़े, परन्तु प्रकृति की ऐसी दिव्य व्यवस्था रहती है कि प्रति वर्ष उनको नवजीवन सा प्राप्त हो। अतएव पुराने पंख झड़ कर नए उग आते हैं। साँप के केंचुल उतारने की क्रिया भी कुछ ऐसी ही व्यवस्था है।

जिस तरह पक्षियों का आंतरिक रोम प्रति वर्ष गिर कर फिर उत्पन्न होता रहता है उसी तरह बहुत से जन्तुओं में शीत की यातना शमन करने के लिए विशेष रूप से प्रति वर्ष जो रोम-राशि अधिक वृद्धि पाए होती है, वह ऋतु-परिवर्तन होते ही गिर जाती है। यह पक्षियों के पर झाड़ने की भाँति ही क्रिया समझी जा सकती है जो प्रति वर्ष विषम ऋतु के रक्षार्थ उत्पन्न रोम-राशि के गिराने की पुनरावृत्ति कर दिखाती है। जो पर या पत्तत्र झड़ ही जाते हैं उन्हें कुछ चोंच के झटके से पृथक कर पक्षी ने अपने शिशु-जनन-नीड़ में सज्जित किया तो उसे त्याग की क्रिया कहना उपहास नहीं तो दूसरा क्या हो सकता है। इसी तरह किसी जंतु के जो परिवर्द्धित रोम वार्षिक परिवर्तन रूप में गिर ही जाते हैं

उन्हें भेड़ के ऊनों की भाँति यदि काट कर रख लिया जाय तो उस जंतु को कुछ असुविधा नहीं हो सकती। अतएव विलेशय शशक की मादा भी अपने गिर जाने वाले कोमल रोमों को नोच कर अपने जनन-कक्ष में बिछाने का कृत्य करती है तो कोई भारी त्याग या विस्मय की बात नहीं कही जा सकती।

कहा जाता है कि जैन यती अपने केश नोच-नोचकर बलात् फेंकते हैं। उन्हें इस कृत्य में अवश्य ही वेदना होती होगी। परन्तु वे किसी भावना के वेग में ऐसा त्याग कर दिखाते हैं तथा उसके कष्ट को अनुभव न करने का हठात् प्रयत्न करते हैं। हमारे शरीर के रोमों की ऐसी व्यवस्था है कि उनको उखाड़ फेंकना कष्ट का कार्य है। जड़ों के उखड़ने से रक्तस्राव हो सकता है, शोथ हो सकता है। कुछ मांस-खंड भी नुच आ सकता है परन्तु जिन जंतुओं में रोम वार्षिक रूप में गिरने का प्रबंध है उनकी जड़ स्वतः सूख सी जाती होगी। पतझड़ के समय वृक्षों से पत्ते गिरने की अवस्था में भी पत्तियों के वृंत या आधारदंड मुरझा से गए होते हैं। अतएव विलेशय शशक भी जब रोम नोचते हैं, उनकी जड़ें अधसुखी या मुरझाई होती होंगी। अतएव उन्हें उनके नोचने से शारीरिक वेदना नहीं होती।

यह बात नहीं कही जा सकती कि पशु-पक्षी जगत में शिशु के लिए त्याग की भावना का अभाव होता है। परन्तु इतना अवश्य है कि कुछ त्याग या सहज स्वाभाविक अध्यवसाय कर शिशु के लिए जो व्यवस्था करते हैं या अन्य भी जो कार्य करते हैं उसके लिए उन्हें बुद्धि का उपयोग नहीं करना आवश्यक होता। उनमें तो केवल अंतर्प्रेरणा या अंतर्वृत्ति ही होती है जो उनसे सब कार्य एक व्यवस्थित रूप में कराती है। प्रति वर्ष पक्षी घोंसले या विवर बनाते हैं। जंतुओं में भी कितने विवरवासी हैं, परन्तु उनमें हम पक्षियों

को यह विवेक रखते या मन में तर्क करते नहीं पा सकते कि उनका क्या उद्देश्य है। वे घोंसले या विवर इसलिए नहीं बनाते कि उनमें यह विचार उठता है कि उन्हें शिशु उत्पन्न करने के समय ऐसे आश्रय अपेक्षित हैं। वे विवर या घोंसले केवल इसलिए बनाने में प्रवृत्त हो जाते हैं कि उनमें प्रकृतिदत्त भावना होती है। वे रोम या कोमल पत्तियों की गद्दी यह सोच कर नहीं बनाते कि शिशु या अंडे को सुन्दर विश्राम-स्थल प्राप्त हो। बल्कि इसके लिए उनमें अंत-र्वृत्ति ही होती है। शिशु को वे खिलाते तथा पोषित करते हैं, वह कार्य भी किसी विवेक के कारण नहीं होता, बल्कि उनकी अंत-र्भावना या अंतर्वृत्ति के सहज गुण के कारण ही होता है। ऐसे गुण उनमें जाति की देन है। विलेशय शशक में विवर में अपने शरीर का कोमल रोम नोच कर बिछाने की क्रिया भी उसकी बुद्धि का परिणाम नहीं है, बल्कि उसकी अंतर्वृत्ति के द्वारा संपन्न कार्य है।

चिकचिकी गिलहरी (चिपमंक)

चिकचिकी गिलहरी को चिपमंक भी कहते हैं। यह चिक-चिक या चिप-चिप सा शब्द तनिक भी उत्तेजना होने पर सुनाने लगती है। इसकी दर्जनों जातियाँ अमेरिका में पाई जाती हैं। इन सब की प्रायः एक सी पट्टियाँ होती हैं, परन्तु रोमों में विभिन्नता पाई जाती है। हरा युक्त जैतूनी, धूसर, पीलापन युक्त या मटमैला भूरा रङ्ग होता है। अधोतल सदा धूमिल होता है। वह श्वेत भी हो सकता है। कटि प्रदेश तथा पार्श्व भाग नारंगी या लाल से हो सकते हैं। आँख एक गहरे रङ्ग की पट्टी में निमज्जित सी होती है जो नाक से कान तक फैली होती है। उसके ऊपर और नीचे हल्के रंग की पट्टियाँ होती हैं। कान के पीछे एक हल्का धब्बा होता

है। सिर के पीछे से पूँछ के आधार तक पीठ पर एक काली पट्टी होती है। उसके पार्श्व में दोनों ओर उसके शरीर के स्वाभाविक रंग की पट्टियाँ होती हैं। उनके नीचे फिर एक-एक काली पट्टी होती है। इसके नीचे श्वेत या धूमिल पीले रंग की पट्टी होती है। इसके नीचे पुनः काली पट्टी होती है। अंतिम तीन पट्टियाँ स्कंध तथा कटि प्रदेश पर धुँधली हो जाती हैं। इस प्रकार चिकचिकी या चिपमंक गिलहरी की पीठ पर पाँच काली तथा दो श्वेत या हल्की पीली पट्टियाँ होती हैं।

चिकचिकी या चिपमंक गिलहरी का विवर एक पेचीदी रचना होती है। वह सदा किसी दीवाल, वृक्ष या कगारे के नीचे बना होता है। विवर लगभग एक गज तक धरातल के नीचे लम्बवत्

चिपमंक गिलहरी

बना होता है। फिर कुछ ऊँचाई की दिशा में अनेक टेढ़े-मेढ़े मार्गों रूप में बना होता है। मुख्य विवर से संलग्न अनेक उपविवर होते हैं, अतएव उनमें से किसी से यह शत्रु से बचकर भाग सकती है। केवल एक जन्तु स्टोट ही ऐसा होता है जो इसके विवर की पेचीदगी में नहीं भूलता और अपना लचीला शरीर उनके टेढ़ेपन के अनुरूप घुमा-फिराकर भीतर प्रवेश पा ही जाता है। वह जितने चिपमंकों

को विवर में पा सकता है उन्हें मार डालता है। एक भीषणतम स्टोट को एक बार एक चिपमंक के विवर में थोड़ी देर के लिए प्रवेश करते देखा गया और कुछ मिनटों में ही वह बाहर निकल आया किन्तु इतने ही समय में वह आधे दर्जन चिपमंकों का बध कर चुका था जिनमें एक मादा के साथ पाँच शिशु थे। उनका निष्प्राण शरीर शिशु-पोषण विवर में पाया गया। इतनी सावधानी से रक्षा का साधन बनाने पर एक प्रबल शत्रु उन्हें मिल ही जाता है जो अपने आक्रमण-कौशल से उनके रक्षा-साधन को व्यर्थ बना देता है।

चिपमंक के शिशु-जनन-कक्ष का निर्माण विवर के अन्दर अनेक प्रकार की सूखी पत्तियों द्वारा हुआ रहता है। यह माता तथा उसके शिशुओं के लिए साधारण रूप के सभी शत्रुओं से रक्षा का स्थल होता है। विवर की विभिन्न वक्रता के कारण उसके अनेक मोड़ों का पता पाना बड़ी ही कुशलता का काम हो सकता है। सब को खुले रूप में खोद कर पता लगाना विशेष श्रमसाध्य कार्य होता है।

चिपमंक गिलहरी अपने विवर में एक बड़ा खाद्य-भंडार संचित करती है। यथार्थ में यह बड़ी कंजूस होती है। जितना यह खा सकती है उससे बहुत अधिक खाद्य अपने विवर में संचित करने का प्रयत्न करती रहती है। उस भंडार की कुछ बराबर वृद्धि किये बिना उसे चैन ही नहीं पड़ती है। इसका मुख्य आहार एक कँटीला फल होता है। उसको अपने गाल की थैली में रख कर ले भागने के पहले काँटे तोड़ लेती है जिससे मुख में गड़ न सके। इसके गाल में यथेष्ट बड़ी थैली होती है जिससे यह उसमें अधिक वस्तुएँ एक साथ रख कर अपने विवर में ले जा सकती है। उसके भरे रहने पर इसका बड़ा फूला हुआ गाल विचित्र रूप प्रकट करता
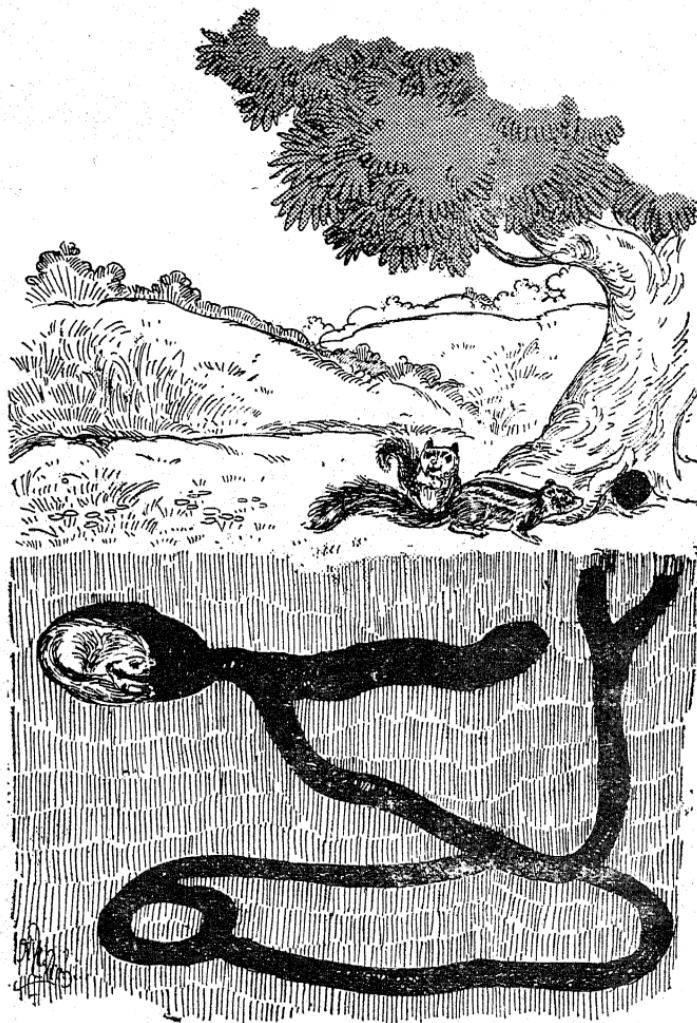
बिलवासिनी गिलहरी का बिल

है। इसका खाद्य-भंडार आड़े उपविवरों में रहता है जिसमें अनेक प्रकार का खाद्य-पदार्थ संचित रहता है।

चिपमंक एक छोटा किंतु सुन्दर जन्तु होता है। उसमें सजीवता कूट-कूट कर भरी रहती है। सदा गतिशीलता पाई जाती है। घनी हरियाली के मध्य से वेगपूर्वक आते-जाते इसे आनन्द का अनुभव होता है।

एकाकी बिलस्थ कलंदक (वूडचक)

गिलहरी से मिलते-जुलते रूप के कुतरने वाले जन्तुओं (कृन्तक) में एक प्रकार के जन्तुओं को मारमोट (विलस्थ कलन्दक) कहा जाता है। मोटे जानवर का आकार खरगोश के बराबर भी हो सकता है। कान और दुम का आकार छोटा होता है। इन्हीं की एक जाति वूडचक कहलाती है। यह उत्तरी अमेरिका का जन्तु है। पर्वतमालाओं में दक्षिणी कनाडा से पूर्वी संयुक्त राष्ट्र तक इसका प्रसार पाया जाता है। अन्य मारमोट जातियों से इसमें यह विशेषता होती है कि इसकी एकाकी रहने की वृत्ति है।

वूडचक बिल में रहने वाला जन्तु है। इसका बेडौल रूप होने से कितने लोग इसे भूवाराह (ग्राउंड हाग) कहते हैं। यह सीटी की तरह ध्वनि उत्पन्न कर सकता है।

वूडचक का विवर अधिक लम्बा होता है। वह बीस से तीस फुट तक लम्बा गया होता है। वह प्रायः विशेषतः किसी बाहर उभड़ी हुई चट्टान या पहाड़ी के अञ्चल में बना होता है। यह कुछ फीटों तक तिरछे रूप में नीचे गया होता है, फिर धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठने लगता है और धरातल की ओर जाता है। विवर के अंत में घोंसला या जनन-गृह होता है। वह गोल आकार का बड़ा कक्ष होता है। शिशु यहीं जन्म धारण करते हैं। पाँच मास

की आयु तक के होने पर वे वहीं पड़े रहते हैं। इतनी आयु के हो जाने पर वे पृथक-पृथक हो जाते हैं और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते हैं। उनमें से प्रत्येक एक गड्ढा एक गज गहरा बना लेता है। ऐसे अनेक विवर खाली ही पड़े मिल सकते हैं।

कपि-कपोलीय मूषक (पाकेट-गोफर)

मुख में बन्दर की तरह गालों के भीतर थैली (गलथैली) रखने की व्यवस्था रखने वाला एक जन्तु कृन्तकों (कुतरने वाले जन्तुओं) में चूहे समान होता है। उसे गलथैली युक्त चूहा कह सकते हैं किन्तु इसका एक पृथक वंश ही होता है। ये ही जन्तु पाकेट गोफर नाम से प्रसिद्ध हैं। यह बिल में रहने वाला जन्तु है। यह अमेरिका में पाया जाता है। यह अपनी दोनों गलथैलियों में खाद्य-पदार्थ ठूँसे रहता है। भूख लगते ही अगले पंजों से तनिक-सा झटका देते ही गलथैली से गले में आहार पहुँच जाता है और उसकी भूख मिट सकती है।

पाकेट गोफर या गलथैली युक्त चूहे का आकार नौ से बारह इञ्च तक लम्बा होता है जिसमें ढाई या तीन इञ्च दुम ही लम्बी होती है। आँख, कान का आकार छोटा होता है। शरीर कुछ पोपला सा ही होता है। पैर छोटे किंतु भयानक रूप से विकसित होते हैं। अगले पैर बड़े ही शक्तिशाली होते हैं। उनमें भूमि खोद सकने योग्य बलिष्ठ चङ्गुल होते हैं। पूँछ प्रायः नग्न (रोमहीन) ही होती है, परन्तु इतने छोटे जन्तु के लिए बहुत बड़ी कही जा सकती है। अतएव यह सिकुड़ सकती है और ऊपर-नीचे फेंकी जा सकती है। सिर विशाल और चपटा होता है। ठुड्डी विचित्र ढङ्ग से पीछे खिसकी सी होती है। अतएव सम्मुखीय विशाल दाँत (कर्तनक) विशेषतः निचले बड़े जोड़े, मुख से बाहर ही दिखाई पड़ते

रहते हैं। इस पर तुर्रा यह कि ऊपरी जबड़ा आगे की ओर प्रलंबित
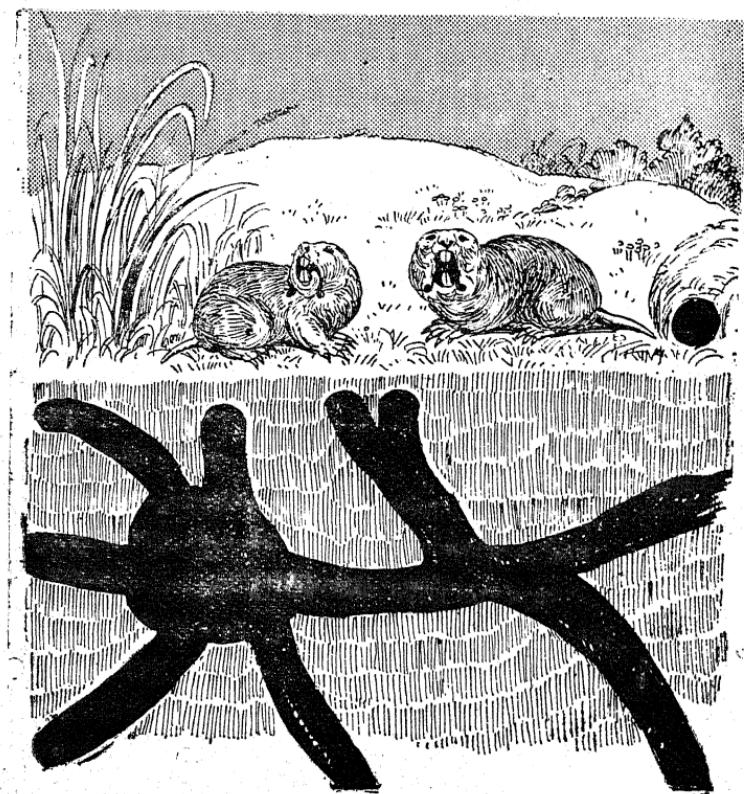
कपिकपोलीय (पाउच्ड रैट) मूषक का बिल

होता है। उसमें ऊपरी कर्तनक आगे बढ़े होते हैं और गलथैली युक्त रोमाच्छादित कपोल की त्वचा उन दाँतों के पीछे स्थित होती है। इस प्रकार मुख का रूप एक गोल छोटे छेद समान हो जाता है जो पीछे से जीभ द्वारा बन्द किया जा सकता है। इन विचित्र

रूपों के कारण इस जन्तु के पहचानने में भूल हो सकना कठिन है।

पाकेट गोफर के अनेक रङ्ग हो सकते हैं। आर्द्र तथा शीत स्थानों में इनका रङ्ग लगभग काला सा होता है। उष्ण मरुस्थलीय प्रदेशों में इसका रङ्ग बलुहा पीला होता है। ये उन स्थानों में पाये जाते हैं जहाँ की भूमि सहज खोदी जा सकती हो और खाद्य-पदार्थ सुलभ हो। शीत स्थानों में इसके रोम मोटे होते हैं, उनका रूप रेशम या ऊन-सा होता है किन्तु उष्ण प्रदेशों में उसके रोम भद्दे और कड़े होते हैं।

पाकेट गोफर विवर-निवासी जन्तु हैं। छछूँदरों समान जीवन व्यतीत करते हैं। केवल घास-पात नोच भागने के लिए ही विवर के बाहर कुछ देर के लिए निकटवर्ती भूमि में जाने के अतिरिक्त ये कभी विवर के बाहर नहीं निकलते।

पाकेट गोफर बहुत बड़ा बिल बनाता है। जहाँ कहीं भी वह जगह पा जाता है, बड़ी हानि पहुँचाता है। उपवनों में विवर बनाने का अवसर होने पर यह पौधों की जड़ें काट डालता है। इसके विवर में होकर जो भी जड़ जाती है, उसे यह खा जाता है। इसके ऐसे विनाशकार्य से केवल छोटे पौधों या फूलदार वनस्पतियों का ही नाश नहीं होता। बल्कि बड़े फलदार वृक्ष भी कई वर्ष पुराने होने पर इसके संहार-कार्य द्वारा गिर पड़ते और सूखते देखे गए हैं। ऐसी अवस्था में इसके विवर की छोर किसी वृक्ष की जड़ के नीचे ही सदा पाई जा सकती है। विवर-द्वार की रक्षा के लिए इसे वृक्ष की जड़ों का आश्रय प्राप्त करना पड़ता है परन्तु उन जड़ों के ही मूल वृक्ष को यह नष्ट कर कृतघ्नता का परिचय सा देता है।

छछूँदर के ढूहे की भाँति पाकेट गोफर भी विवर खोदकर उसकी मिट्टी को बाहर फेंककर ढूहा बन जाने का अवसर देता

है। छोटे-छोटे ढूहे कुछ-कुछ दूर बन जाते हैं। कभी-कभी वे २० या ३० फुट के अन्तर पर होते हैं और कभी-कभी निकट-निकट ही सटे से होते हैं। इसका जनन-कक्ष या घोंसला उस कार्य के लिए विशेष रूप से बने विवर में होता है। वह आठ इञ्च व्यास के एक गोल कक्ष रूप में होता है। नीचे का तल सूखे घास-पात और मादा के नोचे हुए रोम से आच्छादित होता है जिस पर मादा और शिशु विश्राम करते हैं। यह कक्ष एक केन्द्र-स्थल की भाँति होता है जहाँ से चारों ओर विवर-मार्ग (सुरंगें) फूटे होते हैं। इन बहुधा प्रसारित सुरंगों का उद्देश्य दुहरा होता है जिसमें एक तो बाहर भाग सकने का सुगम मार्ग पाना है, दूसरे अनेक सुरंगों में जाकर आहार प्राप्त करना है।

पाकेट गोफरों के विवर को खोदकर पता लगाया गया कि जिस वाटिका में वह बने थे उसके अधिकांश भाग की सुरंगों या विवरों के जाल का निर्माण एक या डेढ़ फुट गहराई के स्थान में हुआ था, परन्तु जहाँ मार्ग थे वहाँ से अधिक गहराई पर स्थित थे।

पाकेट गोफर आहार की खोज में निरन्तर विवर खोदता रहता है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर वे बगल में भी सुरंगें बनाते जाते हैं क्योंकि उन पार्श्वीय विवरों (सुरंगों) के द्वारा वे विवर की मिट्टी बाहर फेंकते हैं। इसीलिए धरातल पर उनसे थोड़ी-थोड़ी दूर पर ढूहे बने मिलते हैं। इनकी विवर खोदने की विधि विचित्र होती है। अपने दीर्घकाय कर्तनक (सामने के) दाँतों द्वारा ऐसी खुदाई करते हैं जैसे हम कुल्हाड़ी द्वारा लकड़ी काट सकते हैं। फिर वे उस खुदी मिट्टी को अपनी ठुड्डी के नीचे से अगले पैरों के चंगुलों द्वारा पीछे फेंकते हैं। जब यथेष्ट मिट्टी एकत्र हो जाती है तो वे उस ढेरी पर चढ़ जाते हैं और बिल में शरीर घुमा लेते हैं।

फिर अपने अगले पंजों को एकत्र कर सामने की ओर मिट्टी को वैसे ही ढकेलते हैं जैसे बुलडोजर मिट्टी खिसकाता है।

पाकेट गोफर पीछे की ओर भी उतनी ही सुविधा या वेग से जा सकते हैं जैसे आगे की ओर चल या भाग सकते हैं। पीछे की ओर चलने के लिए वे अपनी पूँछ के स्पर्श द्वारा मार्ग टटोल लेते हैं। इनका आहार सभी प्रकार की जड़ें, कंद आदि हैं। जिसे वे खा नहीं पाते हैं, उसे काट डालते हैं, और कटे टुकड़े को अगले पंजों में दबाकर अपने रुखानी समान पैने दाँतों के सम्पर्क में घुमा-घुमाकर इस प्रकार गोल बना लेते हैं जैसे हम किसी खराद पर कोई वस्तु गोल करते हैं। फिर उस चिकने बने टुकड़े को अपने गालों की थैली में भर लेते हैं और अपने विवर के खाद्य-भंडार में ले जाकर संचित करते हैं।

पाकेट गोफरों के जननकक्ष सदा चट्टानों या दूहों के नीचे बने विवर में होते हैं जिसके चारों ओर विचित्र गोल अंधी सुरंगें होती हैं। जननकक्ष में केवल मादा ही रहती है। एक बार में चार से आठ तक शिशु उस जननकक्ष में दिए जाते हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता था कि पाकेट गोफरों के गालों की थैली बिल खोदने से निकली मिट्टी को बाहर ढोकर ले जाने में उपयोग की जाती होगी, परन्तु यह बात निराधार सिद्ध हुई है।

गंधमुखी या दिवांधिका

भूमि खोदकर रहने वालों में छछूँदर सबसे विचित्र जन्तु है। यह केवल बिल बनाकर उसके अंतिम सिरे पर बैठी नहीं रहती बल्कि अपने लिए अनेक कक्षों और दालानों से सुसज्जित एक भूमि-गर्भस्थ दुरूह भवन निर्माण कर उसमें आनन्द पूर्वक रहती है। भोजन-क्षेत्र तक जाने के लिए उसमें नियमित मार्ग होते हैं। आने-

जाने के मार्ग आधुनिक कालकी रेलवे लाइन अथवा म्युनिसपैलिटी के नल-जाल की भाँति सुव्यवस्थित होते हैं।

छछूँदर वेग से दौड़ सकती है, और शिकारी कुत्तों की भाँति युद्ध भी कर सकती है। अपना शिकार पृथ्वी के अन्दर और ऊपर पकड़ सकती है और निर्भय होकर पानी में तैर भी सकती है। प्यास बुझाने के लिए कुएँ बना लेना इसके लिए कठिन नहीं है। इतना ही नहीं इसमें बहुत सी विचित्रताएँ हैं जिनका अभी तक पता नहीं लग सका है।

यदि किसी छछूँदर को उसके निवास स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर रखा जाय तो वह नितांत उपहास योग्य और भद्दी मालूम पड़ेगी। फिर उसको उसके परिचित स्थान में रख दिया जाय तो उसका रूप बिल्कुल दूसरा होगा। वहाँ पर वह सजीव जान पड़ेगी और उसमें अद्‌भुत शक्ति आ जायेगी। उसके भद्दे और आलसी रूप में घोर परिवर्तन दिखलाई पड़ेगा। दिखावटी नेत्र-विहीनता से इसके रूप में अद्भुत भद्दापन प्रकट होता है। इसके शरीर के अग्रभाग की रचना चलने-फिरने की कठिनाई का द्योतक प्रतीत होती है। छछूँदर जब तक बिल में घुस न जाय अपनी प्रकृति का प्रभाव नहीं दिखा सकती, पर बिल में प्रवेश कर लेने पर जब वह अपनी करामात दिखाती है तब हम उसे देख ही नहीं सकते। बहुत से सामुद्रिक जन्तुओं के स्वभाव और प्रकृति की परीक्षा तो कृत्रिम जलाशयों में कर ली जाती है किन्तु जो जन्तु पृथ्वी खोद कर रहते हैं और अपना सभी कार्य बिल में ही करते हैं उनके स्वभाव की परीक्षा किस प्रकार की जा सकती है ?

जीती-जागती गंधमुखी (छछूँदर) को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये पकड़ लेना बहुत कठिन है। यदि कभी किसी कौशल से पकड़ भी ली गयी तो उसके लिए भोजन की पर्याप्त सामग्री

जुटाते नाक में दम हो जाता है। उसकी चिन्ता में बिना प्रातःकाल ही उठे कोई व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकता। अतएव बिना अत्यन्त साहसी और अध्यवसायी हुए सफलता प्राप्त करना अत्यंत कठिन हो जाता है।

छछूँदर जितनी आलसी और दीन दीख पड़ती है उतनी ही उसमें दुर्द्धर्षता होती है। यह अत्यन्त भयंकर और अत्यन्त उद्यमी होती है। उपर्युक्त दोनों गुण उसमें ऐसे हैं जिनके कारण बड़े-बड़े जन्तु भी इसकी बराबरी नहीं कर सकते। यह देखने में दीन जान पड़ती है; इसी कारण इसे असहाय न समझ लेना चाहिये। वह पृथ्वी के अन्दर ही सुखी रहती है और वहीं पर अपना पराक्रम दिखा सकती है। यद्यपि अबाबील को वायु में तीव्र गति से मक्खियों का शिकार करते देख हम लोगों को डाह होता है और दिवांधिका (छछूँदर) को कीड़े-मकोड़ों के शिकार के लिए अंधकार-मय मार्ग में घूमते देख हमें दया आती है तथापि दोनों जन्तु अपना जीवन-निर्वाह करने में एक ही प्रकार के आनन्द का अनु-भव करते हैं। एक क्षुद्र छछूँदर को पृथ्वी के अन्दर शिकार पकड़ते उसी प्रकार आनन्द होता है जैसे एक अबाबील को आकाश में वेग से दौड़ लगा कर पतिगों को पकड़ने में प्राप्त होता है। इस प्रकार का नतीजा उसके शिकार पकड़ने के ढंग से ही निकाला जा सकता है। वह शिकार पर पृथ्वी के अन्दर ही एक बारगी टूट पड़ती है और उसके पकड़ने में बड़ा आनन्द प्राप्त करती है।

हम सभी लोग जानते हैं कि छछूँदर भूमि के अन्दर बिल खोद कर रहती है; खेतों में प्रायः इन बिलों से निकली हुई मिट्टी के ढेर दिखाई पड़ते हैं। हम लोग इस बात को नहीं जानते कि उसके विवर के मार्ग किस-किस प्रकार के होते हैं। यह किस प्रकार सीधे बिल खोद लेती है; इसका पता नहीं चलता। वहाँ पर सदा अंध-

कार रहता है; वहाँ हम देख भी नहीं सकते। हम लोगों के लिए या किसी नेत्रयुक्त प्राणी के लिए आँख मूँद कर सीधे मार्ग से चल सकना कितना कठिन है; यह हम जानते ही हैं। पानी में तैरने वाला भी जान सकता है कि पानी के अन्दर आँख खोल कर भी सीधे पथ से चलना असम्भव-सा है। खेतों में जहाँ इसके बिल की मिट्टी इकट्ठी रहती है वहाँ वर्षा ऋतु में उसके बह जाने पर बिल का एक द्वार मात्र दिखाई पड़ता है। इसी मार्ग से प्रारम्भ करके अन्य मार्गों का पता लगाना चाहिये, जिससे इसके निवास स्थान का पूरा हाल मालूम हो जाय।

इसका स्थायी वास-स्थान प्राय: छोटे टीलों के ही नीचे होता है। टीले का आकार यथेष्ट बड़ा होता है; किन्तु प्रत्यक्ष वह दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि यह सदा किसी पेड़ या झाड़ी की ओट में
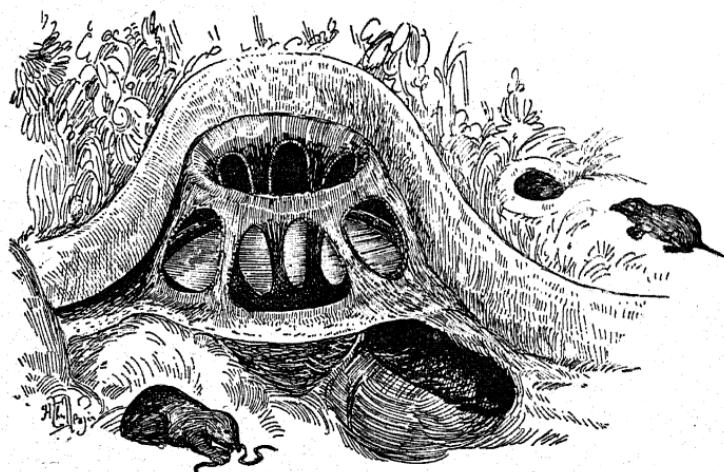
छछूँदर की गढ़ी

रहता है। इसी कारण सबका ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं होता।

एक वृहद् विवर का वर्णन यहाँ पर किया जाता है। विवर के मध्य में एक विशद कक्ष है उसके चारों ओर दो बरांडे ऊपर-नीचे बने हैं। बरांडे वृत्ताकार हैं क्योंकि कक्ष का आकार भी वैसा ही है। ऊपर का बरांडा नीचे वाले से अधिक छोटा है। नीचे का बरांडा कक्ष की छत के समतल है और ऊपर वाला इससे कुछ ऊँचे पर है। मध्यवर्ती कक्ष गोल है और उसकी छत टीले के आस-पास की धरती के समतल है, अतएव पहाड़ी के ऊपरी भाग से बहुत नीचे यह स्थित है। एक बरांडे में से दूसरे में आने-जाने के लिए पाँच मार्ग बने हैं किन्तु मध्य वाले विशद कक्ष में उतरने के लिए केवल ऊपर के बरांडे में प्रवेश द्वार है। ऊपर वाले बरांडे से तीन मार्ग कक्ष की छत्त को गये हैं। इस प्रकार जब छछूँदर को भीतर घुसना होता है तो बिल से प्रवेश कर नीचे वाले बरांडे में जाना होता है और वहाँ से ऊपर के बरांडे में होकर मध्यवर्ती कमरे में पहुँचना होता है। विवर से निकलने के लिए एक दूसरा मार्ग भी है; वह बीच के कमरे के नीचे होकर जाता है। वह मार्ग उस कमरे के मध्य में नीचे को कुछ दूर तक जाकर फिर ऊपर को घूम जाता है और तब बाहर के बड़े मार्ग में जा मिलता है। यह बड़ी विचित्र बात है कि बाहर से आने के जो भिन्न-भिन्न दिशाओं में स्थित ७ या ८ मार्ग हैं उनमें से कोई भी नीचे के बरांडे में ऐसे स्थान पर नहीं मिलता जहाँ ऊपर के बरांडे में जाने का मार्ग ठीक सामने पड़ता हो; अतएव जब गन्धमुखी नीचे के बरांडे में पहुँच जाती है तो उसे दायें वा बायें हट कर ऊपर के बरांडे में जाने के लिए मार्ग मिलता है।

गन्धमुखी के कोमल रोमों की रगड़ से सभी मार्गों की दीवालें और छत बिल्कुल चिकनी, कड़ी और पालिश की हुई जान पड़ती हैं। इस कारण अधिक वर्षा होने पर विवर के बैठ जाने का भय

नहीं रहता। इस प्रकार के मार्गों और अनेक कमरों को प्रयोग में लाना सन्देहजनक जान पड़ता है। इस विषय में हम बहुत कम जानते हैं, इसीलिए इस विषय में भविष्य में भली प्रकार अनुसंधान करना चाहिये। यह अनुमान किया जा सकता है कि जिसके अधिकार में इतना विशद और दुरूह भवन है वह सचमुच अजीब जन्तु होगा; वह आनन्दपूर्वक मध्यवर्ती कमरे में विश्राम करता होगा और जब कोई खटका होता होगा तो उसकी सूचना पाकर सुविधापूर्वक किसी मार्ग से निकल भागता होगा।

छछूँदर अधिक समय तक विश्राम नहीं करती है। विशद कमरों के स्थान पर भवन के मार्गों में ही उसके जीवन का अधिक अंश व्यतीत होता है। नटों से इस बात का पता लगता है कि यह प्रत्येक तीन घंटे परिश्रम करने के पश्चात् नियमित रूप से दिन-रात एक-सा विश्राम करती और दौड़-धूप लगाती है।

ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में नर और मादाओं में प्रेम उत्पन्न होने लगता है। इन दिनों प्रेमासक्त होने के कारण इनकी प्रकृति और प्रचण्ड हो जाती है। जब कभी दो नर मिल जाते हैं, उनमें द्वेषाग्नि भड़क उठती है और तुमुल युद्ध मच जाता है। एक-दूसरे को नोचने-खसोटने लगते हैं। उस दशा में उनको अपने शरीर की रक्षा का तनिक भी ध्यान नहीं रह जाता। केवल युद्ध का ही ध्यान रहता है। विवर में युद्ध से सन्तुष्ट न होकर कभी-कभी वह ऊपर भी आकर युद्ध करने लगते हैं उस समय इनको पकड़ लेना बड़ा आसान होता है।

सचमुच छछून्दर का सम्पूर्ण जीवन क्रोधोन्माद-मय है। जब कोई शिकार मिल जाता है तो उसे चंगुल से दबाकर नोच फाड़कर भूखे सिंह की भाँति वह शीघ्रता से भक्षण कर जाती है।

लोग कहते हैं कि जब कोई नया शिकार मिल जाता है तो उसे

खाने के पूर्व उसका ऊपरी चमड़ा यह उतार डालती है, किन्तु इसकी सत्यता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जिस कार्य का बारीक यन्त्रों से होना भी सरल नहीं है वह नाखूनों द्वारा आसानी से किस प्रकार हो सकता है ?

इस बात का अनुमान कर सकना भी कठिन है कि वह कीड़े-मकोड़ों को किस प्रकार खाती है। पीठ को टेढ़ी कर, सिर को दोनों कन्धों के बीच सिकोड़कर विकट रूप से शिकार को मुख में ठूस लेती है। इसकी तुलना भयंकर खूँख्वार पशुओं से ही हो सकती है।

इस प्रकार का कोई शक्तिशाली जन्तु न होगा, जो ठोस पृथ्वी में छेद कर सरलता से घुस जाने में समर्थ हो। जब इस प्रकार के दो नरों का सामना हो जाता है तो बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो जाती है। जो सर्वदा जन्तुओं की ही खोज में रहते हैं उनके लिए तो यह युद्ध साधारण जान पड़ेगा किन्तु जो पशुओं की प्रकृति का पर्यवेक्षण करने में व्यस्त हैं वे इसकी भयंकरता समझते हैं। उनके सामने वही तुच्छता भयंकरता में परिवर्तित हो जाती है। युद्ध का स्वरूप जानने के लिए उनके आकार का भी ध्यान रखना आवश्यक है। वास्तव में दो छछून्दरों का युद्ध दो सिंहों के तुमुल युद्ध से अधिक भयंकर नहीं तो उसकी बराबरी का अवश्य है। क्यों कि इ-में सिंह से भी अधिक साहस होता है और आकार के विचार से सिंह से अधिक शक्तिशाली होती हैं।

कल्पना कर लीजिये कि कोई छछून्दर सिंह के आकार की है। यह काल्पनिक जन्तु ऐसा भयंकर और विकट होगा जैसा संसार ने कभी न देखा होगा। यद्यपि यह पशु नितान्त अन्धा होगा और शिकार पर दूर से दौड़कर आक्रमण कर सकने में असमर्थ होगा तथापि अनुमान से भी अधिक कर्म-पटु और उद्योगी होगा।

शीघ्रता से इधर-उधर कूद फाँदकर अधिक स्थान घेरेगा और विद्युत् के तुल्य वेग से शिकार पर आक्रमण कर झट से उसके शरीर के टुकड़े कर डालेगा और भक्षण कर लेने के पश्चात् भी अधिक मांस की भूख रह ही जावेगी। इस प्रकार का दुर्द्धर्ष जन्तु २० फुट लम्बे सर्प को बिना किसी प्रतिबन्ध के सरलतया निगल जायेगा और उसकी भूख इतनी तीव्र होगी कि दिन भर में ऐसे २० या तीस सर्पों को उदरस्थ कर डाले। एक बार दाँत लगाकर पंजे की एक ही चोट से बैल जैसे बड़े पशुओं को चीर फाड़ सकने में समर्थ हो सकेगा। यदि किसी भेड़ के झुण्ड में या पशुशाला में इसका प्रवेश हुआ तो रक्त-पिपासा वा केवल अपनी इच्छा पूर्ति के लिए उसका संहार कर डालेगा और सभी पशुओं को शीघ्रता से सहज में ही मार डालेगा। इस प्रकार के दो दुर्द्धर्ष जन्तुओं का यदि कहीं सामना हो गया तब तो दुर्घटना की भयंकरता देखते ही बनेगी। नर छछून्दर तो इस क्षुद्र रूप में भी भीषण आक्रामक का सामना करते समय उन्मत्त हो जाता है और आक्रामक को ध्वंस करने का प्रचण्ड प्रयत्न करता है, इसमें उसके शरीर की चाहे जो दशा हो जाय। उसके पराक्रम का परिचय इसी से कुछ मिल जाता है।

विवर के निर्माण में छछून्दर सचमुच अपने कौशल का परिचय देती है। इसके मध्यवर्ती विशद कमरे, भिन्न-भिन्न मार्ग और बरांडे बड़ी चतुराई से बने होते हैं। अकेली होकर भी अपने भवन के लिए बहुत सा भिन्न-भिन्न स्थान घेर लेती है। अपना शिकार ढूँढ़ने के लिए वह अनेक दिशाओं में भिन्न-भिन्न गहराई की सुरंगें बनाती चली जाती हैं, कभी-कभी जैसे गरमी के मौसिम में उसे अधिक गहराई तक जाना पड़ता है, तब कहीं उसको कोई शिकार मिलता है। और कभी इतनी गहरी नाली या खाईं खोदती है कि उसकी पीठ दिखाई देती रहती है।

उसकी मांस पेशियों में असीम शक्ति भरी होती है, जिससे इतना छोटा शरीर होने पर भी अधिक परिश्रम कर पाती है। जिन्हें कभी कुआँ या गड्ढा खोदना पड़ा है वह अनुमान कर सकते हैं कि जमीन खोदकर मिट्टी फेंकने में कितने परिश्रम की आवश्यकता होती है। कुदाल और फावड़े की सहायता से एक घनफुट जमीन खोदने पर इस परिश्रम का अनुमान किया जा सकता है। इसीसे छछून्दर के पराक्रम का भी अनुमान किया जा सकता है। वह ठोस पृथ्वी को थोड़े ही समय में खोदकर तैयार कर लेती है। उसे इसमें जितना परिश्रम करना पड़ता है उतना ही परिश्रम एक मनुष्य को १२॥ फुट गहरे और २० फुट व्यास के गड्ढे के खोदने में करना पड़ेगा।

बिल बनाकर रहने वाले सभी जानवरों में देखा जाता है कि बिल में से जब निकलते हैं तो उनके बालों में मिट्टी नहीं लगी होती। किन्तु इस जानवर में यह बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है। यह प्रायः नये बिल तैयार करने में व्यस्त रहती है, एक बार बने हुए बिल से ही आने-जाने में संतोष नहीं करती। इसके शरीर की रगड़ से विशद मार्गों की दीवारें चिकनी हो जाती हैं, इस कारण इसके बालों में धूल नहीं लगती, किन्तु आश्चर्य यह है कि छछून्दर सब तरह की मिट्टी में से साफ निकल आती है, उसकी खाल या बाल मैले नहीं होते। इसका मुख्य कारण उसके बालों की निराली बनावट है। छछून्दर के बाल मखमली होते हैं, किसी एक ओर को मुड़े नहीं होते, दायें-बायें सब ओर झुक सकते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से इसका कारण भी जान लिया गया है। बाल का मूल भाग बिलकुल पतला होता है। धीरे-धीरे यह मोटा होता जाता है और फिर पतला। इस प्रकार उसका व्यास ओर से छोर तक कई बार घटता-बढ़ता है। इसी कारण बालों को जिस ओर चाहें आसानी से घुमा

सकते हैं। बालों के पतले अंशों में कोई रङ्ग नहीं होता और इस रचना-वैचित्र्य के कारण ही इनका रङ्ग कालापन लिए भूरा ज्ञान पड़ता है। जब छछून्दर के बाल बिल्कुल स्वच्छ कर दिये जाते हैं तब उनका रङ्ग इन्द्रधनुष के रङ्ग का सा दिखाई पड़ता है, उसमें लाली लिये ताम्रवर्ण प्रधान होता है। बालों के स्वच्छ रहने का एक और कारण उसकी झिल्लीस्थित पेशियों का शक्तिशाली होना भी है। जब वह बिल खोदने में व्यस्त रहती है तब मिट्टी और धूल से उसके बाल भर जाते हैं। जब पेशियों के बल से वह बालों को झकझोर देती है तो वह स्वच्छ हो जाते हैं। फिर भी उनके मूल में मिट्टी रह ही जाती है। इसको पानी में रखने से मिट्टी तह में बैठ जाती है और बाल स्वच्छ हो जाते हैं। साबुन से स्वच्छ करने पर अत्यन्त सुन्दर और मुलायम जान पड़ते हैं, जिन पर मुग्ध होकर लोग वस्त्र बनवाने का विचार करते हैं, किन्तु यह मूर्खता है। पहले तो वह गर्म होते हैं, उनके बने वस्त्र केवल कड़ी सर्दी में पहने जा सकते हैं, दूसरे टिकाऊ नहीं होते, व्यय बहुत अधिक हो जाता है। ३००० या ४५०० रुपये में एक कोट बन सकता है, बालों में बहुत बुरी दुर्गन्ध होती है जो दस वर्ष तक सुखाने पर भी दूर नहीं होती। दुर्गन्ध के कारण शिकारी कुत्ते भी गन्धमुखी से दूर रहते हैं।

बहुत से जानवर ऐसे हैं जो बिलों में रहते हैं किन्तु अपना पराक्रम बाहर ही दिखा सकते हैं। बिल में तो केवल मुर्दे की तरह पड़े-पड़े विश्राम करते हैं, किन्तु गन्धमुखी बिल में ही सब प्रकार का कौतुक दिखाती है। उसका वास्तविक जीवन पृथ्वी के अन्दर ही व्यतीत होता है। भूमि के अन्दर सब प्रकार के कार्य वह इतनी तीव्रता से सम्पादन करती है, जितनी तीव्रता से मछलियाँ जल में कर सकती हैं।

अब इसके शरीर की बनावट पर ध्यान देना चाहिये। इसके अंगों की बना[illegible] ही इसमें इतनी तीव्रता होती है। विशाल पंखे ([illegible]धास्थि) जो रीढ़ की ओर झुके होते हैं, आगे के अंगों की बलशाली अस्थियाँ, चौड़ी और झुकी हुई हथेली और तेज़ पंजे सचमुच किसी मशीन के पुर्जे के सदृश काम करने वाले जान पड़ते हैं, जो शिकार को सहज ही विध्वंस कर सकने में समर्थ होते हैं।

इसके आगे के अङ्ग अधिक शक्तिशाली होते हैं। गर्दन की मांस-पेशी बहुत मजबूत होती है जहाँ लिगामेंट (अस्थायी अस्थि) कड़ा होकर अस्थि रूप में परिवर्तित हो जाता है। नाक में एक और सहायक हड्डी लगी होती है, जो उसके अन्त तक चली जाती है। इससे थूथनों में अपूर्व बल आ जाता है जो शिकार को चीरने-फाड़ने में बहुत तेजी दिखलाती है। मृत्यु के पश्चात् ही उसकी थूथन बिलकुल नर्म हो जाती है और झुकाने पर आसानी से पीछे झुक जाती है, मानों रबड़ का टुकड़ा जुड़ा हुआ हो। थोड़ी ही देर पश्चात् फिर वह बहुत कड़ी हो जाती है। मृत्यु के पश्चात् उसके अङ्ग ठीक जीवित अवस्था की भाँति किसी प्रकार भी रखे जा सकते हैं। इस कारण इसके मृत शरीर को देखकर इसकी ठीक-ठीक आकृति का अनुमान नहीं किया जा सकता। आगे के पञ्जों में बल लाने के लिए हँसिया के आकार की एक अस्थि लगी होती है। इस प्रकार छछून्दर के शरीर में बहुत सी ऐसी विचित्र बातें हैं जो अन्य किसी भी जन्तु में नहीं पायी जातीं।

लोमड़ी

जिस प्रकार छछून्दर घरों में बहुतायत से पायी जाती है उसी भाँति गाँव में बाहर मैदान में और जङ्गलों में लोमड़ी अधिक

संख्या में पायी जाती हैं। जब हम घर में रहते हैं तो रात को और कभी-कभी दिन को भी इधर से उधर छू छू कर भागती हुई छछून्दर को देखते हैं। घर से बाहर सबेरे साँझ जब घूमने निकलते हैं या खेतों को देखने जाते हैं तो खे खे करती हुई खेखरि मिल जाती है। छू छू और खे खे के कारण इनका छछून्दर और खेखरि नाम बिल्कुल उपयुक्त है। हमारे दैनिक गृहस्थ जीवन से इनका बड़ा साथ है। दोनों जानवर लोगों में इतने प्रसिद्ध हैं कि यह एक कहावत सी बन गई है कि 'घर में छछून्दर और वन में खेखरि'। छछून्दर की भाँति लोमड़ी (खेखरि) भी बिल के अन्दर ही रहती है।

जिन्हें खेखरि की कथा नहीं मालूम है उन्हें इसका विवर देखकर बड़ा आश्चर्य होगा। छछून्दर के आगे के दोनों पैर जमीन खोदने के लिए बने ही हैं; उसके पंजे गड्ढा खोदने में बड़े तेज होते हैं। उसकी हथेली खुरपे की भाँति काम करती है; मांस-पेशियों में भी अपूर्व बल होता है। उसके शारीरिक अवयव बिल खोदने में विशेष काम आते हैं; थोड़ी बहुत चलने फिरने में भी सहायता पहुँचाते हैं, किन्तु लोमड़ी के पैर तीव्र गति के ही लिए बने हैं; इसीलिए वह बहुत तेज दौड़ सकती है। जैसे छछून्दर जमीन खोदने की शक्ति से चल फिर भी सकती है वैसे ही लोमड़ी के दौड़ धूप में अद्भुत शक्तिशाली पैरों को किसी प्रकार खोदने का भी काम करना पड़ता है।

ध्रुवीय शीत प्रदेशों में यह बिल तैयार करने में तेज होती है। मौसिम की कठिनाई से बचने के लिए बिल बहुत गहरा बनाना पड़ता है और एक स्थान में अलग-अलग २५, ३० लोमड़ियों के बिल दिखलाई पड़ते हैं। यदि इनके एक भींटे को खोदा जाय तो विचित्र बात दिखाई पड़ेगी। जमीन के अन्दर पचीस सुरंगें मिलेंगी, जिनमें प्रत्येक सर्वाङ्गपूर्ण होंगी। उसके अन्त में एक बड़ा सा कमरा

होगा। ऐसे कमरों में भिन्न-भिन्न अनेक मार्ग बने होते हैं और विश्राम करने का स्थान उनके निम्न भाग में होता है। कमरा काफी बड़ा होता है और वहाँ से किसी खटके से लोमड़ी का जल्दी से भाग निकलना बड़ा आसान होता है। यहाँ से एक सुरङ्ग दूसरे कमरे तक जाती है जहाँ मादा बच्चे देती है और उनका पालन-पोषण होता है। यह कमरा बहुत बड़ा नहीं होता। अब पता चला है कि ध्रुवीय लोमड़ियों का विवर छछून्दर के विवर से बिलकुल मिलता-जुलता है। दोनों के निवासस्थान दुर्ग होते हैं जिनके मध्य के बड़े कमरे से बहुत से मार्ग बाहर की ओर जाते हैं और बच्चों की रक्षा के लिए उसमें छोटा सा सुरक्षित स्थान होता है। पाँच-पाँच छः-छः बच्चों को यहाँ आश्रय मिलता है। बाहर वाले कमरों में और इसमें खुलने वाली कई एक सुरङ्गों में बहुत सा भोजन का भण्डार रहता है; यहाँ पर प्रायः खरगोश, बतक जैसे छोटे जानवरों की हड्डियाँ पड़ी रहती हैं।

लोमड़ी बड़ी चालाक होती है। ध्रुव प्रदेश में यात्रा करने वालों ने प्रायः इसको मूर्ख बतलाया है; क्योंकि यह बड़ी आसानी से पकड़ी जा सकती थी। किसी साधारण जाल में भी यह फँस जाती थी। थोड़े ही समय में शिकारियों ने दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह लोमड़ियों का शिकार किया था। यह उनको देखकर अपनी जान बचाने का यत्न न कर सकती थी; किन्तु अब इनको पकड़ना कठिन हो गया है। अब के यात्रियों को इसके शिकार की कठिनाई भली-भाँति ज्ञात है। उनका कहना है कि इनमें बड़ी चालाकी होती है और इनका फन्दे में फँसना बिल्कुल असम्भव सा है। बात यह है कि इसके सुन्दर बालों के लोभ से यूरोप से आ-आ कर शिकारियों ने इनका पीछा करना प्रारम्भ कर दिया है। शिकार करते समय जो पकड़ ली जाती हैं उनका तो अन्त ही हो जाता; किन्तु जो

बच निकलतीं वह सदा के लिए चेत जातीं । धीरे-धीरे बहुत सी लोमड़ियाँ बचकर निकल भागीं और इनको शिकारियों के जाल से
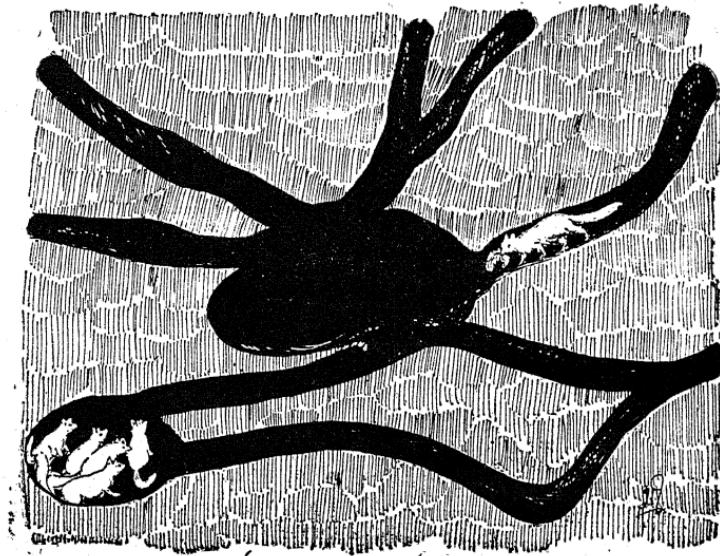
लोमड़ी का बिल

सदा के लिये छुट्टी मिल गई । अब इनमें से प्रत्येक को मन में असाधारण पदार्थ को देख सन्देह उत्पन्न हो जाता है; किसी दूसरे पदार्थ को, जो उनके दैनिक जीवन में काम नहीं आते, देखकर उसके मन में तुरन्त शंका उत्पन्न हो जाती है; उसके पास तक नहीं फटकती। कभी किसी विचित्र वस्तु को न तो छूती है और न सूँघती है। नयी वस्तु को देखकर दूर से ही भाग जाती है।

मांसाहारियों का कहना है कि लोमड़ी का मांस खाने में बड़ा स्वादिष्ट होता है; किन्तु अधिक अवस्था की लोमड़ी का मांस कड़ा होता है और उसे खाने से मुँह में छाले पड़ जाते हैं।

ध्रुव प्रदेश की लोमड़ी का चमड़ा साधारण अवस्था में भी अच्छा होता है; किन्तु जब, वह जाड़े में स्वच्छ हो जाता है और बिल्कुल श्वेत रङ्ग का निकलता है तो इसका मूल्य बहुत अधिक होता है। ऐसे चमड़े का बना चोगा केवल लाखों में ही मोल लिया जा सकता है। इतना ही नहीं इस जन्तु के रोयें भी बहुमूल्य होते हैं। वृद्धा लोमड़ी के महीन और सुन्दर रोयें अच्छी दशा में अपने कई गुने तोल के सोने के मूल्य के होते हैं।

दूसरे देशों की लोमड़ी जहाँ तक होता है बिल खोदने से जी चुराती है और बनी बनाई भींटे को ढूँढ़ती है। किसी खरगोश के बिल को यह प्राय: अपना लेती है। यद्यपि लोमड़ी खरगोश से बहुत बड़ी होती है तथापि उस छोटे बिल को ही अधिक चौड़ा कर अपना बिल बना लेती है, जिसमें अधिक परिश्रम से जमीन खोदनी न पड़े। जैसे बर्मे द्वारा लकड़ी में एक छोटे छेद के स्थान पर चौड़ा छेद बना लेना सुगम होता है उसी प्रकार लोमड़ी को भी छोटे बिल को चौड़ा कर लेना सरल होता है। जब कभी किसी अवसर पर अभाग्य से ऐसा बिल न मिल सका तो उसे स्वयं पूरा बिल खोदना पड़ता है। वहाँ पर वह अन्य बहुत से जन्तुओं की भाँति दिन में सोया करती है और रात को बाहर निकल पड़ती है। यहीं पर मादा बच्चे देती है। कभी-कभी सन्ध्या को सम्पूर्ण कुटुम्ब बिल के आस-पास घूमता दिखायी पड़ता है; बच्चे बिल से कभी दूर नहीं जाते।

छछूंदर-मूषक

भारतीय मैदानी चूहा या छछून्दर-चूहा बिल खोदकर छछून्दर की भाँति ढूहे बना लेता है इसलिये उसे छछून्दर-मूषक नाम दिया जा सकता है। इसके शरीर पर लम्बे बाल होते हैं तथा पीठ पर

कड़कड़ाते बाल होते हैं। इसके शरीर का रङ्ग गहरे धूसरपन युक्त भूरा तथा हल्के पीले रङ्ग के छींटे युक्त होता है। अधोतल कुछ धूमिल होता है। यह भारत के सारे भागों में पाया जाता है। आर्द्र उर्वर स्थलों में अधिक रहता है।

भारतीय छछून्दर-मूषक प्रायः खेतों, फुलवाड़ियों और चरागाहों में रहता है किन्तु पतझड़ वाले या सदाबहार वृक्ष के जङ्गलों या बञ्जर भूमि में भी रहता है। खोदी हुई मिट्टी के नए ढूहे से इसकी उपस्थिति ज्ञात होती है। बिल खोदकर बाहर फेंकने से ढूहा बना होता है। बिल के द्वार से एक गोल कक्ष तक मार्ग गया होता है। कक्ष दो फुट या इससे भी अधिक गहराई में होता है। उसकी सुरङ्ग २० गज या २० फुट या इससे कम ही लम्बी हो सकती है। बिल के स्थान पर ही उसकी लम्बाई निर्भर करती है। खेतों के मेड़ के नीचे बना बिल छोटा ही होता है। खुले मैदान में वह अधिक विस्तृत होती है। जब वह अधिक विस्तृत होता है तो सुरङ्ग के मार्ग में स्थान-स्थान पर कई जगह धरातल पर मिट्टी के ढूहे मिल सकते हैं किन्तु ऐसे मध्यवर्ती ढूहों तक कोई बाह्य मार्ग नहीं दिखाई पड़ सकता। उनके अस्थायी द्वार बन्द कर दिए गए होते हैं और सुरङ्ग अबाध रूप से आगे बढ़ी होती है। छोटे गोल कक्ष सुरङ्ग के मध्य या पार्श्व में बने होते हैं, जो शयन कक्ष से विशेष दूर नहीं होते। ये खाद्य भण्डार होते हैं। फसल पैदा होने के समय वे अन्न के दानों से भर लिए जाते हैं। इन संचित अन्न-भण्डारों को प्राप्त करने के लिए धनहीन लोग बिलों को खोद डालते हैं। शयन कक्ष से कई मार्ग बाहर निकल भागने के होते हैं। उनके बाहरी द्वार प्रायः शिथिल मिट्टी से बन्द किए रहते हैं किन्तु भागने की आवश्यकता होने पर छछून्दर-मूषक उस शिथिल मिट्टी को ढकेलकर द्वार खुला बना लेता है।

प्रत्येक विवर में प्रायः एक ही छछून्दर-मूषक रहता है या उसमें मादा और उसके शिशु रहते हैं। मादा अपने जनन या शिशु-कक्ष में पुआल तथा पत्तियाँ बिछा लेती है। उसके शिशु पूर्ण अंधे ही उत्पन्न होते हैं जिनकी संख्या १०, १२ तक हो सकती है। उनके शरीर नग्न भी होते हैं। परन्तु कुछ समय में वे बाल और नेत्रों की ज्योति से ही सम्पन्न नहीं होते, प्रत्युत स्वयं नए विवर बनाकर उसका स्वामी होने की क्षमता भी समय पर प्राप्त कर लेते हैं। रोम तथा नेत्र की ज्योति तो एक मास में ही प्राप्त हो जाती है किन्तु पूर्ण प्रौढ़ होने में उन्हें तीन मास लगते हैं। उस समय वे स्वयं संतान उत्पन्न कर सकते हैं।

भूकलन्दक

भूकलन्दक या भूवासिनी गिलहरी की अफ्रिकीय तथा अमेरिकीय जातियाँ होती हैं। अफ्रिकीय भूवासिनी गिलहरी वृक्षचारी अफ्रिकीय गिलहरियों समान ही होती है किन्तु उसके बाल छोटे और कड़कड़ाते होते हैं। पूँछ की लम्बाई लगभग उतनी होती है जितनी उसके शरीर की लम्बाई होती है। उसके दोनों ओर बाल व्यवस्थित होते हैं। यह भूमि पर ही विवर बनाकर रहती है। यह गहरे विवर बनाती है।

अमेरिकीय शुद्ध भूकलन्दक की दो दर्जन जातियाँ पाई जाती हैं। ये हडसन की खाड़ी और मिसीसिपी से लेकर अलास्का, मेक्सिको तथा पैसिफिक तट आदि अमेरिका के समस्त पश्चिमी भूखंडों में पाई जाती हैं। उनका शरीर भारी होता है। पैर छोटे होते हैं। पूँछ की लम्बाई सारे शरीर की लम्बाई का तृतीयांश या चतुर्थांश होती है। ये मैदानों और खेतों में पाई जाती हैं। बिल खोदकर उसमें शीतकालीन दीर्घ निद्रा में लिप्त होती हैं। किन्तु दक्षिण के उष्ण

भागों में उनमें शीतकालीन दीर्घ निद्रा की वृत्ति नहीं होती। उत्तरी भागों में छः मास से भी अधिक दीर्घकालीन निद्रा में ग्रस्त होती हैं। वे वृक्ष पर नहीं चढ़ सकतीं। वृक्षहीन मैदानों में ही रहती हैं और प्रबल चङ्गुलों से बिल खोद लेती हैं। ग्रीष्म काल में शरीर में संचित चर्बी के बल पर ही इनकी शीतकालीन दीर्घनिद्रा का काल निराहार व्यतीत हो जाता है।

श्वेत रीछ

हम विचित्र रूप के आवासों में कहीं शीशमहल की बात सुनते हैं तो कहीं संगमरमर रचित ताजमहल का प्रत्यक्ष उदाहरण देखते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थों से निर्मित अनेक भवनों की चर्चा हमें विशेष आश्चर्य में नहीं डाल सकती, परन्तु यदि हिम-महल या श्वेत महल की बात कही जाय तो हमें अवश्य विस्मय का अवसर मिल सकता है। ऐसे भवन की दीवालें भी बर्फ की होती हैं। छत भी बर्फ की होती है। वायु के प्रवेश के लिए खिड़की का भी प्रबंध होता है। ऐसा प्रबन्ध ध्रुवीय प्रदेशों का वासी श्वेत रीछ या ध्रुवीय रीछ करता है। शीतकाल के विषम वातावरण से रक्षा पाने के लिए शीतकालीन दीर्घ निद्रा में पड़े रहने की व्यवस्था करनी पड़ती है, परन्तु ध्रुवीय रीछ बर्फ की गुफा या विवर सा बनाकर ही शीत से रक्षा पाता है।

ध्रुवीय रीछ दीर्घ आकार का श्वेत जन्तु है। इसके शरीर की पूरी लम्बाई ७-६ फुट तक होती है जिसमें ३½—४¼ इञ्च तक पूँछ ही लम्बी होती है। इसके शरीर का भार ६ मन से लेकर २० मन तक होता है। यह समुद्री जन्तुओं, सील से लेकर मछली तक का आहार करता है। एक बार में दो शिशु उत्पन्न करता है। इसका मिट्टी का विवर न होकर बर्फ का होता है। इस कारण इसे विवर-वासी जन्तुओं की गिनती में लिया जा सकता है।

हिम के अखंड राज्य में रक्षा के साधन हो सकते हैं, परन्तु उसके न सूझने से प्राणी विनष्ट हो सकता है। जहाँ चारों ओर घोर शीत का साम्राज्य हो, बर्फीली आँधी बह रही है, चारों ओर हिम के फाहे गिर-गिरकर सारी दृश्य सृष्टि को अपने काल-पाश में अभिभूत कर रहे हों, वहाँ हिम के वातावरण में रहने वाला व्यक्ति अपनी रक्षा का एक अद्भुत साधन निकाल सकता है। उसको ऐसी किसी विकट सहन शक्ति की आवश्यकता नहीं जिसमें हिम के निम्न तापमान से प्रत्यक्ष होड़ लेना सम्भव हो। वह तो कुछ युक्ति का साहस लेकर ऐसे संकट का शमन ही करता है। अपनी युक्ति का बल पाकर वह हिम के प्रत्येक फाहे या खंड का स्वागत करता है। उसकी श्वेत काल भुजा से ध्वस्त होने का भय हृदय में नहीं उठता।

हिम के चारों ओर साम्राज्य स्थापित होने के अवसर पर आपद् ग्रस्त व्यक्ति केवल किसी कगारे, वृक्ष या बड़े पत्थर की आड़ में एक गड्ढा खोद लेता है जिसमें वह लेट सके तथा बर्फीली आँधी के प्रहार से बच सके। अपने वस्त्र पहने हुए वह इतनी अधिक गहराई में भूमि में आश्रय लेता है जितनी गहराई तक वह गड्ढा बना सकता है। इसके बाद वह बर्फ गिरने देता है। यह शयनकक्ष शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखाने लगता है।

जिस पदार्थ में ऐसे खोह बने होते हैं, वे पदार्थ ताप के बड़े ही दुर्बल चालक होते हैं, अतएव उसमें आश्रय लेने वाले यात्री के शरीर से निकले श्वास का ताप आँधी द्वारा बहा नहीं लिया जाता, बल्कि यात्री के चारों ओर ही रक्षित रहता है अतएव उससे यात्री के अंगों को ताप तथा संवेदना पुनः प्राप्त होती है। शरीर जैसे-जैसे उष्ण होता है, वह गड्ढा भी धीरे-धीरे बड़ा होता जाता है। इससे हिम के अन्दर पड़ा यात्री बर्फ में अधिक गहरे धँसता

है। ऊपर से शीघ्र गिरती हुई बर्फ आच्छादित होती जाती है। इस तरह यात्री की उपस्थिति के चिन्ह मिटते जाते हैं।

ऐसी भयानक स्थिति में भी यात्री के दम घुटने का भय नहीं होता क्योंकि उसके श्वास की गर्मी से एक ऊर्ध्ववर्ती मार्ग सदा ही खुला रहता है। अतएव बर्फ की एक सपाट मोटी तह बनने के स्थान पर एक गोल छिद्र के चारों ओर भग्न रहती है। श्वास के निकलने के इस गोल द्वार के चारों ओर चमकते हिम के फाहे एकत्रित रहते हैं। इस रूप में हिम राशि के अन्दर बने कक्ष में घोर शीत के स्थान पर लगभग घोर उष्णता रहती है और यात्री उसमें रक्षित रह जाता है। वहाँ यात्री इतनी उष्णता में ही विश्राम कर सकता है जितना शीतकाल के सुरक्षित तथा कृत्रिम उष्णता से सज्जित भवन में विश्राम करता है।

बर्फ की घनी राशि में प्राणियों के रक्षित रह जाने के दूसरे भी उदाहरण पाए जा सकते हैं। शीत देशों में पहाड़ी स्थानों में शीत-काल में कहीं भेड़ों का झुण्ड अकस्मात बर्फ की आँधी के प्रकोप में पड़ जाता है। गड़रिया कहीं सुरक्षित स्थान में रहने का उद्योग करने के कारण भेड़ों के झुण्ड से दूर रह जाता है। उधर भेड़ें शीत के उत्पात से कहीं कगारे या चट्टानों की आड़ में एक से एक सटकर खड़ी होने का उद्योग करती हैं किन्तु बर्फ की आँधी उन पर कृपा दृष्टि नहीं करती। अन्य वस्तुओं के साथ वे भी विशाल हिमराशि के अंतराल में दब जाती हैं। केवल उनकी श्वास क्रिया से ऊपरी तह में छिद्र हो जाता है। किन्तु उतना ही परिवर्तन उनकी प्राण-रक्षा करने का मार्ग खोलता है।

जब तूफान का वेग कुछ कम होने पर चरवाहा अपने साथ कुशल कुत्तों को लेकर भेड़ों के झुण्ड की खोज में जाता है तो उसकी दृष्टि अनेक पूर्वपरिचित स्थानों में से किसी को भी नहीं देख

पाती। सारे ऊँचे-नीचे स्थान, खड्ड, कगारे, पर्वत-शृंग आदि हिम-आच्छादित होने के एक रूप हो गए होते हैं। इस भीषण स्थिति में सहयोगी कुत्ते ही सहायक होते हैं। वे दुर्गम स्थलों में भी जाकर सूँघ-सूँघकर अखंड हिमतल पर कहीं छिद्र होने का पता लगा लेते हैं जो नीचे दबी भेड़ों के श्वास लेने के कारण ऊपर तक बना रहता है। उतने ही संकेत से कुत्ते भौंकने लगते हैं। गड़रिया इस संकेत को समझ जाता है और लग्गे से हिमराशि तोड़ता है। भेड़ों का दल इस प्रकार पुनः प्राप्त हो जाता है।

हिम के प्रकोप के समय भेड़ों का दल स्वतः बर्फ के अन्दर सुरङ्ग नहीं बनाता। वह बर्फ की समाधि में जीवन का एक बड़ा भाग व्यतीत करना नहीं चाहता। उनका दल तो हिमतल के नीचे दैव योग से ही दब जाता है। वे बर्फ के तूफान से भयग्रस्त होकर कहीं किसी वस्तु की आड़ में अपने भेड़िया-धसान का रूप प्रदर्शित सा करने के लिए जुटे पड़े भर रहते हैं, परन्तु उनके सामूहिक श्वास लेने की गर्मी से ही बर्फ की तह में ऊपरी तल तक वायु का मार्ग बन गया होता है। श्वास लेने की व्यवस्था तो इस तरह हो जाती है परन्तु भोजन की व्यवस्था नहीं होती। बेचारी भूखी भेड़ें एक दूसरे की पीठ से ऊन ही नोच-नोचकर खाने लगती हैं। यदि अधिक समय तक उनका पता न लग सके तो एक दूसरे की पीठ से सब ऊन नोच खाने के पश्चात् वे भूखों मर जाती हैं।

किन्तु ध्रुवीय भालू ऐसी ही परिस्थिति में स्वेच्छा से अपने को रखने के लिये दिसम्बर के महीने में किसी चट्टान के बगल में आ बैठता है और खुरच-खुरचकर गड्ढा बना लेता है। ऊपर से बर्फ गिरनी प्रारम्भ होती है। धीरे-धीरे एक कक्ष बन जाता है। उसी में मादा भालू का शीतकाल कट जाता है। इसी विचित्र कक्ष में उसकी सन्तान भी उत्पन्न होती है और शिशुओं का पोषण भी

होता है। मादा अपने स्तन से उन शिशुओं को दूध पिला-पिलाकर सारे शीत ऋतु भर जीवित रखती है। मार्च तक इस समाधि में ही रीछ माता और सन्तानों का निवास रहता है। बाहर से खाद्य नहीं मिलता।

मार्च में जब बर्फ पिघलने लगती है, मादा रीछ के कक्ष की दीवालें भी हिल उठती हैं। उसका हिम-कक्ष केवल चार मासों की ही आयु रखता है। उसके टूटने पर मादा शिशुओं के साथ बाहर निकल आती है। उस समय तक शिशुओं का आकार खरगोश के बराबर ही हुआ रहता है। इस हिम-समाधि में रहते समय शिशुओं के उत्पन्न होने पर इस परिवार के सदस्यों के शरीर की गर्मी तथा श्वास की उष्णता के कारण हिम-कक्ष का विस्तार बढ़ता है और उनके लिए स्थान की न्यूनता नहीं रह जाती। भेड़ के झुण्डों की भाँति ध्रुवीय रीछ का पता भी हिमतल के ऊपर छोटे छिद्र से लग सकता है। उस छिद्र के निकट बर्फ के फाहे उठते रहने से स्थान और भी स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

हिम-कक्ष की सुविधा सभी ध्रुवीय रीछ नहीं प्राप्त करते। नर ध्रुवीय रीछ तो एकाकी भ्रमण करता ही समय व्यतीत कर लेता है, अतएव उसे हिमतल के नीचे ऐसी कोठरी में आश्रय प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु मादा के सामने दूसरा प्रश्न रहता है। उसे शिशु जनन करना होता है। अतएव इस विशेष व्यवस्था का आश्रय लेती है। गर्भधारण न करने वाली मादाएँ भी नरों की भाँति ऊपर ही घूम-फिर कर शीतकाल व्यतीत कर लेती हैं।

शीतकालीन दीर्घ निद्रा की यह आंशिक वृत्ति ध्रुव क्षेत्र के श्वेत भालुओं, योरप के भूरे भालुओं तथा अमेरिका के काले भालुओं में पाई जाती है। शीतकालीन विश्रामकक्ष में प्रविष्ट होने के पूर्व वे

श्वेत ऋक्ष (ध्रुवीय भालू) का हिम-कक्ष
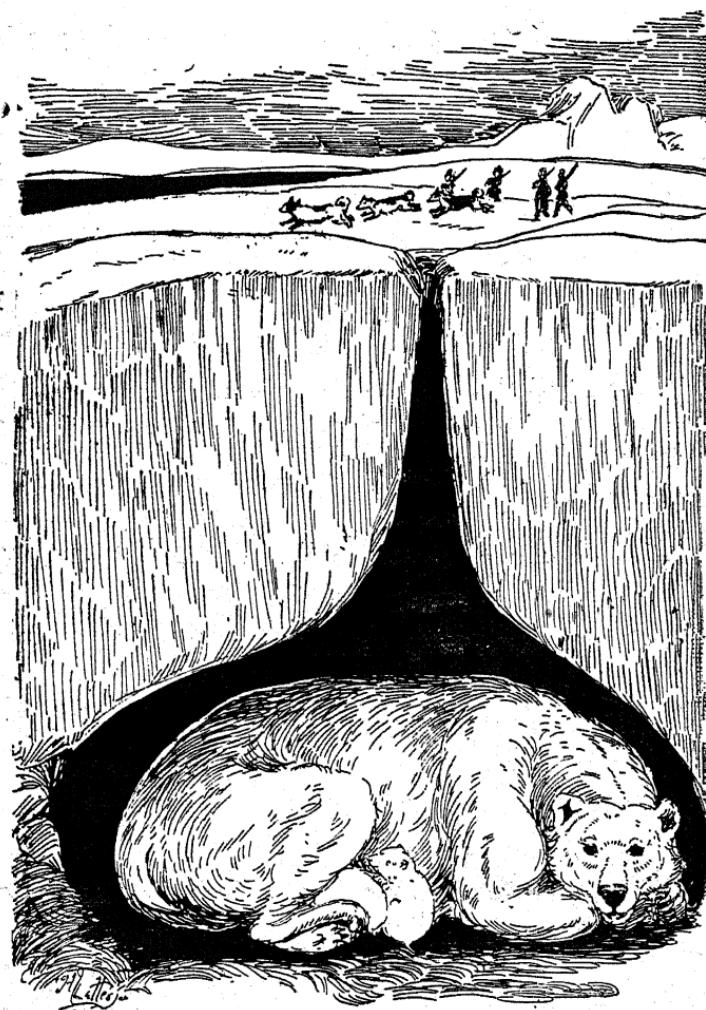
भालू बहुत अधिक खाते हैं तथा किसी अनिवार्य अन्तर्वृत्ति के वश

हो कर सब से पुष्टिकर खाद्य ग्रहण करते हैं। फलतः उनके शरीर में प्रचुर वसा संचित हो जाती है।

तीन मास के एकान्त जीवन के समय ध्रुवीय मादा भालू को कहीं से भी आहार प्राप्त नहीं होता। यह अपने शरीर में संचित चर्बी के भन्डार पर ही जीवन-कार्य के लिए अवलंबित रहती है। यही नहीं, गर्भ के अन्दर शिशुओं को भी पोषित कर जन्म के बाद उन्हें दूध भी पिलाना पड़ता है। यह बात अवश्य है कि यथेष्ट आहार प्राप्त करने के लिए वे शिशु आश्चर्यजनक छोटे आकार के ही होते हैं। तीन मास तक एक ग्रास आहार भी खाए बिना ही उनको दूध पिला कर पोषण कर सकना और अपना शरीर भी रक्षित रखना मादा रीछ को प्रति शीत ऋतु में व्यवहार्य सिद्ध करना पड़ता है।

पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों ही गोलार्द्धों के रीछों में एक विशेष बात देखी जाती है। एक कठोर ठोस पदार्थ द्वारा उनकी आँत का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यह क्रिया इस जन्तु को जीवित रखने में सहायक होती है। स्कैंडिनेविया में तो नर और मादा दोनों ही पाँच मास तक गुप्त विश्रामगृह में पड़े रहते हैं। वहाँ से बाहर निकलने के पूर्व कदाचित ही आंत्र-अवरोध टूटता हो। यदि कभी आंत्र-अवरोध टूट जाने का अवसर होता है तो भालू बड़ा कृश-काय हो जाता है।

श्वेतपुच्छ काष्ठ-मूषक

कोटरवासी या श्वेतपुच्छ काष्ठ-मूषक ६-७ इञ्च लम्बा होता है। इसकी पूँछ कुछ लम्बी होती है। इसकी पूंछ का तीन चौथाई भाग भूरा होता है तथा शेष भाग लम्बे श्वेत बालोंयुक्त होता है। शरीर का कोमल रोम ऊपरी तल पर धूसर भूरा तथा अधोतल पर

श्वेत होता है। यह दक्षिणी, मध्य तथा पूर्वी भारत के पतझड़ तथा

कोटरवासी मूषक

सदाबहार के जंगलों में रहता है। कहीं पर विरल वृक्षों के जंगल तथा नंगी पहाड़ियों पर भी रहता है। जंगलों में रहने पर यह वृक्षचारी ही होता है। यह किसी वृक्ष के कोटर या खोखले में ही प्रायः अपना घोंसला बनाता है। मैदानों या खुले स्थानों में चट्टानों तथा झाड़ियों के नीचे ही गृह बनाता है।

अमेरिकीय मैदानी चूहा

अन्य जन्तु भी ऐसे होते हैं जो बर्फ के अन्दर सुरंग बनाते हैं।

किन्तु उनका प्रयोजन बर्फीली सुरंग में रहना नहीं होता, बल्कि आहार ढूँढ़ना होता है। उत्तरी अमेरिका के कुछ मैदानी चूहे ऐसे जन्तु हैं। उनमें बर्फ के अन्दर लम्बी सुरंग बना कर आहार ढूँढ़ने की वृत्ति पाई जाती है। इस कार्य में इतने कुशल होते हैं कि शीत-काल में वे प्रायः अधिक पुष्ट हो जाते हैं। उन दिनों वृत्तों की सभी हरी पत्तियाँ गिर चुकी होती हैं, प्रत्येक वनस्पति बर्फ की घनी चादर से ढक गई होती है। प्रकृति द्वारा भूखों मारने का सब कुछ प्रवन्ध दिखाई पड़ता है, परन्तु मैदानी चूहे अपने कौशल से बर्फ के नीचे से आहार प्राप्त कर अपनी जीवन-रत्ता करते हैं।

क्षुद्रतम आर्माडिलो (फेयरी आर्माडिलो या पिचिसियागो)

पिचिसियागो या फेयरी आर्माडिलो सब से छोटे आकार का आर्माडिलो है। इसके सिर और धड़ की लम्बाई ५ इञ्च और पूँछ की लम्बाई डेढ़ इञ्च होती है। यह छछून्दर की तरह पूर्णतः भूगर्भ-वासी होता है। आँख और कान बहुत छोटे होते हैं और बालों से छिपे होते हैं। पैर छोटे होते हैं, परन्तु पंजे बड़े और बलिष्ठ होते हैं जिनसे खोदने का कार्य लिया जा सकता है। इसका शरीर-रत्तक कवच अस्थि-फलकों द्वारा बना होता है जिसमें लगभग बीस आड़ी पट्टियाँ होती हैं। अन्त में पुच्छीय आधार के खड़ा अस्थीय फलक होता है जो कटि प्रदेश को एक खंडित रूप प्रदान करता है। इस कटिप्रदेशीय अस्थिफलक में एक छिद्र से पूँछ बाहर की ओर निकली होती है। हड्डियों के फलक के छोरों पर नर्म रेशमी बाल उगे होते हैं।

क्षुद्रतम आर्माडिलो या पिचिसियागो के शरीर का आकार ही उसे बिलस्थ जीवनक्रम के सर्वथा योग्य प्रकट करता है। इसका कङ्काल भी इस कार्य के योग्य होता है। अगले पैर की हड्डियाँ छोटी,

मोटी और मेहराबदार होती हैं, जो उसकी दृढ़ मांसल शक्ति को प्रकट करती हैं। पिछले पैर की हड्डियाँ भी उसके शरीर के अनुपात
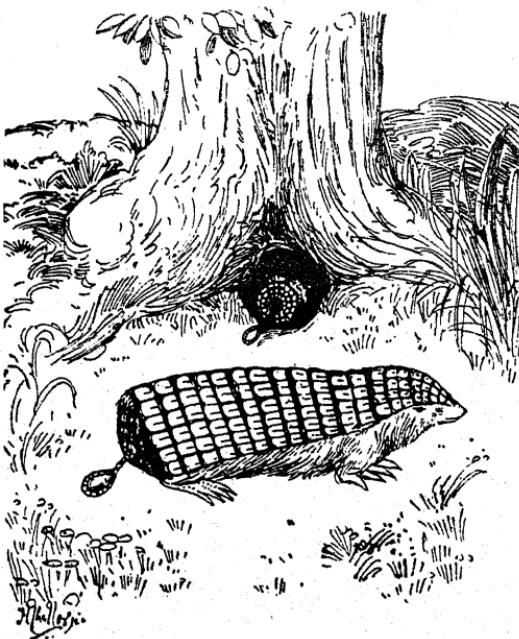
क्षुद्रतम आर्माडिलो (पिचिसियागो) तथा उसका बिल

में विशेष दृढ़ होती हैं। अगले पंजे अत्यधिक बड़े, हथेली की आकृति के होते हैं। उनमें पाँच दृढ़, वक्रित तथा दबे हुए चङ्गुल ऐसे रूप के होते हैं जो खोदने के लिए आश्चर्यजनक उपकरण बनें। थूथन छछून्दर के समान लम्बा और नोकीला होता है। इसकी एक जाति पश्चिमी अर्जेंटाइन में और दूसरी बोलविया में पाई जाती है। यह छछून्दर की भाँति विवर में ही रहता है। मिट्टी में लम्बी

सुरंग बनाता है और कदाचित चींटी और इल्लियों का आहार करता है।

क्षुद्रतम आर्माडिलो में मुख्य विचित्रता यह है कि इसका शरीर हड्डी की चौकोर शलाका या फलक द्वारा रक्षित होता है। वे चौकोर टुकड़े एक दूसरे से मिलकर सिले जान पड़ते हैं। ये हड्डियों की पटरियाँ (फलक) सारे शरीर पर मढ़ी नहीं होतीं, बल्कि रीढ़ से ही आबद्ध होती हैं। सिर के ऊपर भी वे फैली होती हैं। इससे केवल पीठ की रक्षा ही नहीं होती, कटि प्रदेश तथा सिर की भी रक्षा होती है। जब यह जन्तु बिल खोदता रहता है तो उसके कटि प्रदेश का कवच पूर्ण रक्षा प्रदान करता है। किसी भी शत्रु के आक्रमण को यह व्यर्थ कर सकता है। इस पृष्ठीय कवच का रूप खण्ड-खण्ड के जुटने से लचीला होता है अतएव उससे इसकी प्रत्येक गति में सहायता प्राप्त होती है।

दीर्घ आर्माडिलो

दीर्घ आर्माडिलो यथेष्ट बेगगामी जन्तु है। कहा जाता है कि यह दौड़ कर आदमी से आगे जा सकता है। शरीर की सहज लचकदार तथा गतिशीलता से उनके चलने में विशेष सहायता प्राप्त होती है। ये मुख्यतः रात्रिचारी जन्तु हैं। दिन को बिल में छिपे पड़े रहते हैं। रात को आहार की खोज में बाहर निकलते हैं। वे जिन बिलों में रहते हैं उनकी लम्बाई प्रायः तेरह-चौदह फुट होती है। यह अकस्मात तीन-चार फुट की गहराई तक उतरी होती है, उसके बाद फिर ऊपर की ओर धीरे-धीरे उठी होती है। इन बिलों में ही मादा चार शिशुओं को उत्पन्न कर उनका पोषण करती है।

आर्माडिलो नई दुनिया (पाश्चात्य गोलार्द्ध) के जन्तु हैं।

ये दक्षिणी, और मध्य अमेरिका में पाये जाते हैं। उत्तरी अमेरिका में एक जाति के आर्माडिलो टेक्सा प्रदेश के दक्षिणी भाग में ही पहले पाये जाते थे, किन्तु अब मिसिसीपी नदी पार कर पूर्व और उत्तर में पहुँच चुके हैं। फ्लोरिडा में भी इनका प्रसार हो चुका है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। कुछ जातियों में पीठ पर की अस्थीय पटरियाँ (फलक) सात से दस तक की संख्या में होती हैं। नौ अस्थिफलकों के कवचयुक्त जाति भी होती है। कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं जिनमें प्रत्येक अस्थिफलक के चारों ओर एक दूसरा बहुत छोटा अस्थीय छल्ला आवेष्टित होता है। इनमें तीन या छः अस्थि-फलकों के भी आर्माडिलो होते हैं।

नौफलकीय आर्माडिलो लगभग तीन फुट लम्बा होता है। उसमें आधी पूँछ की ही लम्बाई होती है। पूँछ लम्बी गावदुम-सी पीछे की ओर पतली होती जाती है। यह नीचे कद का जन्तु है। पैर छोटे और पुष्ट होते हैं। चारों पैरों में बलिष्ठ, खुदाई कर सकने योग्य चंगुल होते हैं। सारा शरीर कछुए की अस्थीय पीठ के समान बुर्जनुमा कवच से आच्छादित रहता है। चारखाने समान अस्थि-खण्डों के त्वचा के अन्दर परस्पर जुट जाने से बने अनेक फलकों या पटरियों के द्वारा पृष्ठीय कवच बना होता है। यह कवच दोनों पार्श्व में झूल की भाँति लटका रहता है। सिर पर पृथक कवच होता है। पूँछ पर छल्ला द्वारा शृंखलित कवच होता है। वे छल्ले ठोस होते हैं और छोटे होते पीछे गए होते हैं।

शरीर के कवच के मुख्य तीन भाग होते हैं। आगे और पीछे के एक-एक भाग स्कंध तथा कटिप्रदेश के रक्षक होते हैं। वे ठोस कवचीय बुर्ज होते हैं। मध्यवर्ती कवच नौ फलकों या आड़ी पट्टियों द्वारा बना होता है। वे शृंखलित होकर मध्यभाग का आवरण बनती हैं।

आर्माडिलो बिल में रहता है। वह अपना बिल चट्टानों, जड़ों या घनी, एक दूसरे से जकड़ी वनस्पतियों की ओट में बनाता है। यह दिन को बाहर निकलता है किन्तु रात को ही अधिक निकलता है। क्रियाशील रहता है। अपने बिल से चारों ओर फैली सुरंगें बनाता है। उनमें झटक-झटक कर कुदान-सा कर चलता है। यह मुख्यत: कीट और उसमें भी विशेषकर बहुसंख्यक दीमक खाता है अतएव इसके मल से चिकनी श्वेत मिट्टी का छोटा ढूहा-सा बन जाता है। इनकी इन्द्रियाँ बड़ी सुस्त-सी होती हैं अतएव पीछा करने पर इनको कुछ पता नहीं चलता किन्तु एकबार सावधान होते हा बड़ी तीव्रता से घासों में भाग निकलते हैं। यदि कभी शत्रु से सामना हो ही जाय तो अपना सिर पैरों के मध्य कर सारा शरीर मोड़ डालते हैं। इस तरह एक गेंद-सा आकार बन जाता है जिसमें केवल पूँछ ही बाहर लटकाने की रस्सी समान रह जाती है।

सभी जातियों के आर्माडिलो प्रबल बिलस्थ होते हैं। वे अपना आहार अधिकांशत: भूमि के नीचे से ही प्राप्त करते हैं। दीर्घ आर्माडिलो एक जाति होती है जो इतनी प्रबल मांसाहारी होती है कि गड़े मुर्दे उखाड़ कर भी खा जाती है। ये सभी जन्तु जान्तव पदार्थों के ही इच्छुक होते हैं। दक्षिणी अमेरिका में खाल की प्राप्ति के लिए बहुसंख्यक ढोर मारे जाते हैं। उनके शव मैदानों में फेंक दिए जाते हैं। उन शवों को दीर्घ आर्माडिलो बड़ी उत्सुकता-पूर्वक खा जाते हैं।

आर्माडिलो को बिल खोद कर निकाल लेना कठिन हो सकता है। ये अपने उपनिवेशों के बिलों में बिलस्थ शशक (रैबिट) की भाँति रहते हैं। पहली बात तो यह जान लेना आवश्यक होता है कि जन्तु अपने विवर में उपस्थित है या नहीं। इसकी एक सुगम विधि होती है। विवर के अन्दर एक छड़ी डालकर यह देखा जाता

है कि उसमें मच्छड़ हैं या नहीं। यदि कोई मच्छड़ विवर से बाहर निकले तो वह इस बात का प्रमाण होता है कि विवर में आर्माडिलो मौजूद है। यदि विवर में आर्माडिलो नहीं रहता तो उसमें मच्छड़ नहीं रह सकता। एक बार आर्माडिलो की उपस्थिति का निश्चय कर विवर में एक लम्बा डंडा डालकर उसकी दिशा ज्ञात कर खुदाई की जाती है। एकबार खुदाई कर बड़े गड्ढे से फिर विवर में लम्बा डण्डा डालकर उसकी दिशा ज्ञात की जाती है और खुदाई होती है। कई बार ऐसा करने पर अन्त में जन्तु का पता लग सकता है।

विवर की दिशा ज्ञात करते जाने और खुदाई करते ही जाने से आर्माडिलो को सहज प्राप्त नहीं किया जा सकता है। एक ओर जहाँ मनुष्य उसका पीछा करने के लिए बिल की खुदाई करता जाता है, वहाँ दूसरी ओर आर्माडिलो छिपने के प्रयत्न में भीतर निरन्तर बिल खोदता जाता है। दुर्भाग्य यही होता है कि मनुष्य जितनी जल्दी अपने फावड़ों से खुदाई करता है उतनी जल्दी आर्माडिलो अपनी बिल की नई खुदाई नहीं कर सकता। इस कारण अन्त में उसे पराजित होना पड़ता है। फिर भी ऐसा उदाहरण देखा गया है जिसमें दिन के तीन पहर तक खुदाई करने और आधे दर्जन गड्ढे खोदने के पश्चात् आर्माडिलो पकड़ा जा सका।

दीर्घ आर्माडिलो की भाँति अन्य कई जातियों के आर्माडिलो एक बार में एक शिशु उत्पन्न करते हैं, परन्तु बहुपट्टित या नौपट्टित आर्माडिलो में एक विशेष बात यह देखी गई है कि वे एकबार में चार शिशु उत्पन्न करते हैं। वे चारों शिशु किसी एक लिंग के होते हैं अर्थात् चारों नर ही होते हैं या मादा ही होते हैं। एक और विलक्षण बात यह होती है कि इन चारों का सृजन एक ही गर्भान्वित अंड या जननकण से हुआ रहता है।

बज्रदेही (पैंगोलिन)

पैंगोलिन को बज्रदेही या शल्कीय कीटभक्षक कहा जाता है। इस जंतु का शरीर छिछड़े या शल्क समान छोटे-छोटे शृङ्गीय खंडों द्वारा आच्छादित रहता है। ये शल्क चपटे और कठोर होते हैं। खपरैल की भाँति दूसरे के ऊपर छोर की ओर चढ़े होते हैं। इस कारण शल्कीय नाम दिया जाता है। चीटियों, दीमकों आदि को खाने के कारण कीटभक्षक कहलाते हैं। इनका ऊपरी तल दृढ़ शल्कों की ढाल या कवच से ढकी होने के कारण चीड़ के फल सदृश शल्कीय (छिछड़ेदार) प्रकट होता है मानों चीड़ का ही बहुत बड़े आकार का चलता-फिरता फल हो। केवल सिर के पार्श्व, उदर तथा पैर के भीतरी तल में ही बाल उगे होते हैं। पूँछ लम्बी और प्रबल होती है। शरीर का रङ्ग भूरा या पीलापन युक्त भूरा होता है। मुख दंतहीन होता है। जीभ तागे समान तथा कोई वस्तु अपनी लपेट से पकड़ सकने योग्य (ग्रहणशील) होती है। ये अपने को लपेटकर एक गेंद रूप में कर सकते हैं। ये रात्रिचारी वृत्ति रखने वाले जन्तु हैं। चींटी और दीमक इनका मुख्य आहार है। ये जंगलों या मैदानों में रहते हैं। ये अफ्रीका और दक्षिणी एशिया में पाए जाते हैं। लम्ब-पुच्छ पैंगोलिन, चीन पैंगोलिन, मलाया पैंगोलिन, दीर्घ पैंगोलिन और भारतीय पैंगोलिन आदि इनकी कई जातियाँ होती हैं।

भारतीय शल्कीय कीटभक्षक या पैंगोलिन को मानी प्रजाति का कहा जाता है। ये विचित्र स्तनपायी जंतु अन्य स्तपोषी जंतुओं से विभिन्न रूप रखते हैं। इनकी बाहरी आकृति सरीसृप सी ही ज्ञात होती है। ये प्रायः कानहीन होते हैं। पूँछ लम्बी होती है जो आधार-स्थल पर बहुत मोटी होती है। उस पर शल्कीय ढाल बनी होती है जो ऊपर और नीचे दोनों ही तलों पर होती है। सिर छोटा होता है। उसमें पतला थूथन तथा छोटा मुख होता

है। जीभ केचुए समान लम्बी और ग्रहणशील होती है। इसके सभी पैरों में पाँच उँगलियाँ होती हैं जिनमें प्रत्येक में बलिष्ठ चंगुल होते हैं। अगले पैरों के चंगुल पिछले पैरों के चंगुलों से बड़े होते हैं। सभी पैरों की मध्यवर्ती उँगली का चंगुल सबसे बड़ा होता है। अगले पैरों के चंगुल विशेष कर खुदाई करने के ही उपयुक्त होते हैं। उनकी नोक सुरक्षित रखने के लिए पैंगोलिन के चलने का ढंग विचित्र होता है। चंगुल भीतर की ओर झुके होते हैं और यह जंतु बाहरी उँगलियों की पीठ तथा बाहरी तल के बल पैर रख कर चलता है। पिछले पैर में प्रायः पैर का तलवा उँगलियों के साथ भूमि स्पर्श करता है। चलने के समय उसकी पीठ कुबड़ी बन गई होती है।

किसी शत्रु के आक्रमण करने पर पैंगोलिन अपने शरीर को मोड़कर गेंद का रूप दे देता है। एक दूसरे पर चढ़े हुए शल्कों के ऊपर निकले पैने किनारे उस समय रक्षा के साथ ही आक्रमण का भी कार्य कर सकते हैं। पैंगोलिन बड़े ही बलिष्ठ तथा कुशल विवर खोदने वाले जंतु हैं, किन्तु सुस्त होते हैं। अपने चंगुल से ये चींटियों तथा दीमकों की बांबी (वल्मीक) खोद डालते हैं और उन्हें अन्दर से निकाल कर खा जाते हैं। अपनी लम्बी जीभ से ये दीमकों को पतले बिल से भी चाट खाते हैं। लसिका-ग्रंथियों के स्राव (थूक) से इनकी जीभ भली-भाँति सिंचित रहती है अतएव उसमें दीमक चिपट कर उनके मुख में पहुँचती है। कभी-कभी पत्थर भी निगल जाने का उदाहरण मिलता है। आमाशय में प्रायः पत्थर के टुकड़े मिलते हैं। पता नहीं वे कीटों के आहार के साथ अनजाने पहुँचते हैं या पक्षियों की भाँति उनके द्वारा खाल में कोई वस्तु घोंटने के समान खाद्य द्रव्य को आमाशय में पीसने के साधन होते हैं।

पैंगोलिन रात्रिचारी जंतु हैं। दिन में ये चट्टानों के नीचे या अपने बनाये बिल में छिपे रहते हैं। इनके सिर तथा धड़ की लम्बाई २ फुट तथा पूँछ की लम्बाई डेढ़ फुट होती है। इनके शरीर के चारों ओर शल्कों की प्रायः एक दर्जन पंक्तियाँ होती हैं।

भारतीय पैंगोलिन भूमि में १२ फुट गहराई तक बिल बनाता है। उतनी गहराई में वह एक बड़ा कक्ष बनाता है। कभी-कभी उस भूगर्भीय कक्ष की परिधि ६ फुट होती है। यह जोड़े बनाकर रहता है तथा एक बार में एक या दो शिशु उत्पन्न होते हैं। जब यह बिल में रहता है तो उसका मुँह मिट्टी से बन्द कर लेता है। अतएव उसका पता पाना कठिन ही हो सकता है। परन्तु एक पहचान होती है। इसके चलने से विचित्र पगचिह्न बने होते हैं। वे इसकी गतिविधि व्यक्त कर देते हैं। यह पालतू भी बनाया जा सकता है। अपने पिछले पैरों पर खड़े होने की वृत्ति इसमें पाई जाती है।

एक भारतीय पैंगोलिन की विचित्र कथा है। एडविन आर्नल्ड नाम के एक विद्वान के पास एक पैंगोलिन जीवित रूप में था। वह यथेष्ट समय तक उनके पास था। भारत छोड़कर इंगलैंड लौटते समय उन्होंने जीवित ले जाना असम्भव जानकर इसकी खाल ही ले जाने का विचार किया। पिस्तौल की तीन गोलियाँ लगने पर यह न मरा। एक गोली तो शल्कों से उछलकर उलट भी गई। किसी प्रकार शल्कों के मध्य भाला भोंक-भोंक कर उसे मारा गया, परन्तु उसकी खाल निकालने पर कहीं भी गोली के चिह्न तक न मिले। यह उसकी शल्कीय ढाल की पुष्टता का विकट उदाहरण था।

पिपीलिका-ऋक्ष या शूकरमुखी (आर्ड वार्क)

पिपीलिका-ऋक्ष या शूकरमुखी एक विचित्र रूप का जन्तु है जो

अफ्रीका का निवासी है। इसे खुरवाले जानवरों का दूर सम्बन्धी कह सकते हैं परन्तु यह पृथक श्रेणी ही बनाता है। शरीर भारी-भरकम होता है। उसका आकार शूकर के बराबर होता है। थूथन शूकर से भी अधिक लम्बोतरा होता है। कान खड़े और खरगोश के कानों की आकृति के होते हैं। जीभ केचुआ के आकार की होती है। वह बाहर बड़ी दूर तक निकाली जा सकती है। जीभ की छोर एक विशेष चिपकन पदार्थ से सिंचित होती है। सिर पर थोड़े से कड़े बाल होते हैं। अगले पैरों में चार-चार और पिछले पैरों में पाँच-पाँच पादांगुलियाँ होती हैं। अगले पैर की पादांगुलियों में भूमि खोद सकने वाले बलिष्ठ चंगुल आवेष्ठित होते हैं। पूँछ लम्बी होती है। इसके चर्वणक दाँत मूलहीन होते हैं और सतत बढ़ते ही रहते हैं। अन्य दाँत होते ही नहीं। इन दाँतों पर भी दन्तवेष्ठन (इनेमल) आवेष्ठित नहीं होता है। इसका आहार चींटी और दीमक है। यह अफ्रीका में उत्तमाशा अंतरीप (केप) से लेकर अबीसीनिया, सूडान और सेनेगल तक पाया जाता है।

आर्डवार्क या शूकरमुखी बिलस्थ जन्तु है। यह अधिकांश समय अपने खोदे हुए बड़े गर्त्तों में रहकर व्यतीत करता है। सूअर की भाँति भूमि खोद सकने की प्रबल शक्ति और उसी के समान मुँह होने के कारण इसे शूकरमुखी कहते हैं। कुछ लोग भू-शूकर भी कहते हैं। आर्डवार्क अफ्रीकीय शब्द है जिसका अर्थ भू-शूकर होता है। इसके स्वभाव के अनुसार भूमि के खोद सकने के लिए प्रबल उपकरण रूप में बलिष्ठ चंगुल बने होते हैं। उन बलिष्ठ चंगुलों का निर्माण नर्म और बलुही मिट्टी खोदने के उद्देश्य से नहीं हुआ होता किन्तु उसके लिए वे अधिकांशतः उपयुक्त अवश्य होते हैं। उन चंगुलों का ठीक कार्य तो कुछ अधिक कठोर होता है। इन चंगुलों की सहायता से शूकरमुखी (आर्डवार्क) दीमकों की बल्मीक (बांबी)
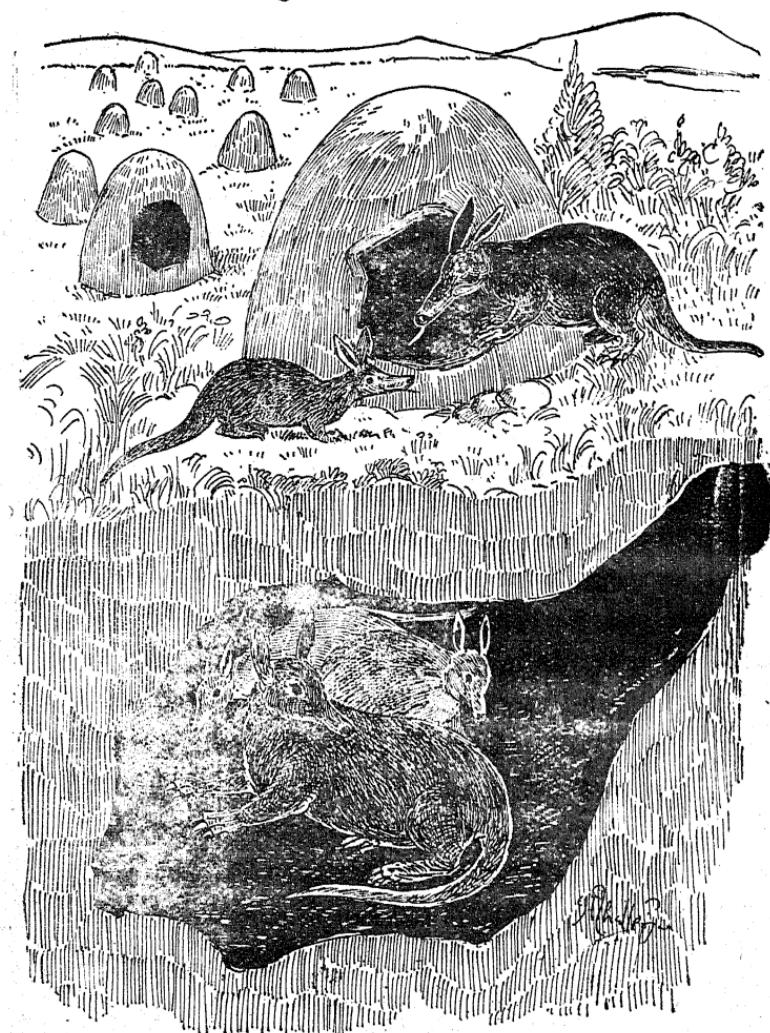
भूशूकर का दीमकों के बांबी पर प्रहार (ऊपर) ; भूशूकर का बिल (नीचे)

की विशाल रचना को तोड़-फोड़ डालता है । अफ्रीका में दीमकों

के ऐसे ढूहे पटे पड़े दिखाई पड़ते हैं। ये इतने दृढ़ बने होते हैं कि मिट्टी की जगह पत्थर की रचना ही प्रतीत होते हैं। उनकी चोटी पर कई आदमी खड़े होकर भी उन्हें ध्वस्त नहीं कर सकते। उन ढूहों (वल्मीक) के अन्दर दीमकों की असीम संख्या निवास करती है। उनको भक्षण करना ही आर्डवार्क का लक्ष्य होता है इसी लिए अपने बलिष्ठ चंगुल से वह इतनी पुष्ट रचना को ध्वस्त करने का प्रयास करता है। जो वस्तु किसी जन्तु का आहार ही हो, उसे प्राप्त करने के लिए तो वह कुछ प्रयत्न शेष नहीं छोड़ सकता। प्रकृति भी इसके लिए उपयुक्त उपकरण प्रदान ही कर देती है।

सन्ध्या होते ही आर्डवार्क अपने विवर से बाहर निकलता है जहाँ उसका सारा दिन विश्राम करते बीता होता है। विवर से बाहर होते ही वह मैदानों में जाकर दीमकों के ढूहे ढूँढ़कर उन्हें ढहाने का उपक्रम करने लगता है। अपने बलिष्ठ चंगुलों से खोद कर वह एक बड़ा छिद्र बना लेता है। दीवाल को वह तोड़ डालता है। घर उजड़ते देखकर ढूहे के अन्दर दीमकों में हंगामा मच जाता है। वे घबड़ाकर इधर-उधर भागने लगते हैं। संख्या अधिक होने पर भी उनमें सामूहिक रक्षाविधि का ज्ञान नहीं होता और न शरीर में कोई प्रबल उपकरण ही होता है। उनके भगदड़ मचाने के समय ढूहे की दीवालें इस प्रकार गिरती हैं मानो किसी बड़े नगर में भारी भूडोल ही आ गया हो। इन आपत्तियों का उत्पादक आर्डवार्क चुपचाप अपने कार्य में तल्लीन होता है। वह अपनी लम्बी जीभ निकाल निकालकर दीमकों को उदरस्थ करने में बिलम्ब नहीं करता। एक भार में सैकड़ों दीमकों को मुँह में पहुँचाता है।

आर्डवार्क के आगमन से दीमकों को कोई भारी दैवी विपत्ति ही समझ पड़ती होगी जिस पर उनका कोई वश नहीं चलता। यह

विपत्ति किसी अन्य लोक से आई ही उन्हें ज्ञात होती होगी। आर्डवार्क इन चिन्ताओं में नहीं पड़ता। वह निरन्तर संहार-कार्य करता जाता है। शीघ्र ही दूहा प्राणी-शून्य हो जाता है।

जहाँ कुछ पलों पूर्व असंख्य दीमकों का नगर सा बना था, वहाँ सब दीमकें आर्डवार्क के मुख में चली जाती हैं। केवल दूहे की कुछ भग्न दीवालें ही उसकी स्मृति रूप में बची रहती हैं। आर्डवार्क एक दूहे को भी गिराकर शान्त नहीं होता, वह एक के बाद एक अनेक दूहे गिराकर उनकी दीमकों से अपनी उदर-पूर्ति करता है।

जिन दूहों (बल्मीक) को आर्डवार्क तोड़कर दीमकें खा जाता है, उन दूहों का रूप गुफा समान शेष रह जाता है जिसमें गीदड़ ही आकर निवास कर सकते हैं। अन्य हिंसक पशु या साँप भी आकर वहाँ अपना डेरा डाल सकते हैं। अफ्रीका के मूलवासी इस बने-बनाए गर्त्त में अपने किसी मृत सम्बन्धी का शव ही गाड़ आने की सुविधा देखते हैं।

अपूर्व खननशक्ति के कारण आर्डवार्क को जीवित पकड़ सकना कठिन कार्य हो सकता है। मनुष्य के फावड़े तथा आर्डवार्क के बलिष्ठ चंगुल में भूमि खोदने की होड़-सी लग जाती है। अपने प्राण के लाले पड़ने और प्रबल खननशक्ति के उपयुक्त उपकरण होने के कारण आर्डवार्क मानव प्रयत्न को व्यर्थ-सा कर उसकी पकड़ में न आ सकने में सफल भी हो जाता है। साधारणतया यह थोड़ी गहराई के विवर में ही रहता है, किन्तु पीछा किये जाने पर अधिकाधिक नीचे बिल खोदता जाता है। इसके विवरों के कारण ऊपर की भूमि घुड़सवारों तथा गाड़ियों के लिए भयानक हो जाती है।

हंसकमुखी या बतचोंचा (डक-बिल्ड)

हंसकमुखी या बत्तखमुखी ऐसा विचित्र जन्तु है जिसका मुख बत्तख की चोंच की तरह होता है, अतएव इसे बतचोंचा कहा जाता है। किन्तु यह स्तनपोषी श्रेणी का जन्तु होता है। यह दक्षिणी पूर्वी आस्ट्रेलिया तथा टस्मानिया में पाया जाता है। इसकी चोंच या चोंचनुमा मुख की अस्थीय पट्टी जीवनकाल में एक नर्म त्वचा से आवेष्ठित रहती है। शरीर तथा चौड़ी पूँछ पर नर्म रोएँ उगे रहते हैं। पैर छोटे होते हैं। उनमें उँगलियों के मध्य त्वचाजाल (अँगुलिजाल) होता है जिससे वे बत्तख के पैरों के समान ही दिखाई पड़ते हैं। एक विशेषता यह होती है कि ये अंगुलिजाल उँगलियों से आगे तक बढ़े होते हैं। नर हंसकमुखी में एड़ी की भीतरी दिशा में एक बड़ा एड़ा या शल्य लगा होता है। उस शल्य (कांटे) में एक विशेष ग्रंथि द्वारा विष उतर आता है।

एक भारी आश्चर्य की बात यह है कि बतचोंचा या हंसकमुखी अंडे से उत्पन्न होता है। कोई भी अंडज जन्तु अपनी माता का दूध नहीं प्राप्त कर सकता परन्तु मादा हंसकमुखी दूध उत्पन्न कर अपने शिशुओं को पिलाती है। इसी कारण इन्हें स्तनपोषी या दुग्धपायी जन्तुओं की श्रेणी में गिना जाता है। वैज्ञानिकों को यह देखकर बड़ा ही विस्मय हुआ था कि यह जन्तु शिशुओं को दूध तो पिलाता है, किंतु मादा हंसकमुखी के शरीर में कहीं भी स्तन का नाम नहीं होता। यह समस्या बहुत दिनों तक वैज्ञानिक खोजियों को चक्कर में डाले रही। अन्त में बड़ी बुद्धिमत्ता पूर्वक वैज्ञानिकों ने ज्ञात किया कि स्पष्ट स्तन कहीं पर न होने पर भी यह जन्तु दुग्ध-ग्रन्थि युक्त होता है। उदर के विशेष भाग में रोम-कूपों द्वारा ही यह दूध स्रवित करता है। शिशु उन रोमों में ही मुँह चिपकाए रख कर दुग्धपान करते हैं। यह खोज जन्तु-जगत में एक बड़े ही महत्व

की थी। लोगों ने अनुमान किया कि पहले सारी सृष्टि अंडज ही रही। उससे स्तनपोषी रूप में विकास का प्रारम्भ इस विधि से ही हुआ होगा।

हंसकमुखी के सिर और धड़ की लम्बाई १८ इञ्च और पूँछ की लम्बाई साढ़े पाँच इञ्च होती है। यह नदियों, नालों, तालाबों आदि के किनारे रहता है। कगारे पर ही यह अपना विवर बनाता है। विवर का एक मुख अवश्य ही पानी के अन्दर होता है। इस विवर के अन्तिम भाग में ऊपरी भाग में मादा अंडे देकर शिशुओं को उत्पन्न करती और पोषण करती हैं। यह एकबार में दो अंडे देती है। तैरने और डुबकी लगाने में इन जन्तुओं को कुशलता प्राप्त रहती है। छोटे जलजन्तु इनके आहार होते हैं। जलजीवी वृत्ति के कारण इस जन्तु को कुछ लोग जल-छछून्दर भी कहते हैं। आस्ट्रेलिया निवासी इसे मैलेंगांग, टैम्ब्रीट या टोहुनबक कहते हैं।

हंसकमुखी भूमि का कुशल खनक भी है और पानी में प्रवीण तैराक भी है, उसके पैर की उँगलियों का जो अंगुलिजाल चंगुलों से आगे बढ़ा होता है, वह पानी में तैरने के समय उपयोगी होता है। परन्तु खोदने का अवसर होने पर वह बढ़ा अंगुलिजाल पीछे हट जाता है और चंगुल नग्न होकर खुदाई कर सकते हैं। खुदी हुई मिट्टी फेंकने में अंगुलिजाल का आगे बढ़ा भाग पुनः उपयुक्त होता है।

हंसकमुखी का गोलाकार शरीर बिल में चल सकने के सर्वथा उपयुक्त होता है। उसके शरीर से त्वचा शिथिल मरोड़ों रूप में लटकी होती है। भूमि पर इसके चलने पर विचित्र रूप दिखाई पड़ता है। इसकी विचित्र आकृति को देखकर तो कुत्ते भी चकरा जाते हैं। इसकी विचित्ररूपता को देख वे भौंक भर देते हैं, परन्तु आक्रमण करने का साहस नहीं होता। बिल्लियाँ तो इसे देखते ही

दुम दबाकर खिसक जाती हैं। इसके शरीर पर के घने रोम इसे जल तथा विवर में चला सकने के सर्वथा उपयुक्त होते हैं। इसकी आँखें बड़ी और गोल होती हैं। विवर के अन्दर जीवनयापन करने वाले जन्तु के लिए ऐसे नेत्र होना विस्मय की बात है। उन पर त्वचा का एक लटकन होता है जिससे मिट्टी से रक्षा हो सके। यह लटकन जबड़े के मूलभाग को आवेष्ठित रखता है। कदाचित इस लटकन की यह भी उपयोगिता होती है कि कीचड़ से आहार प्राप्त करते समय उसका मुख बहुत अधिक न धँसे।

हंसकमुखी (बतचोंचा) अपने विवर ऐसे स्थान में बनाता है जहाँ नदी का पाट विशेष चौड़ा और जल अपेक्षाकृत स्थिर रहकर जलाशय या वृहद् कुंड-सा रूप धारण किये हो। उसके तट पर अपने विवर बनाकर उसके सदा दो मुँह रखता है। एक विवर-मुख पानी के अन्दर ही होता है। परन्तु दूसरा विवरमुख पानी के ऊपर सूखे तट में होता है जिससे वह पानी में रहने या सूखी भूमि में चलने, दोनों ही अवस्थाओं में शीघ्र भीतर प्रवेश पा सके। सूखी भूमि का विवर-मुख सदा छिपे स्थल में होता है जहाँ जलीय वनस्पति, या लम्बे वनस्पतियों के लटकने से उसे देख सकना कठिन हो। घास हटाने पर एक बड़ा छेद दिखाई पड़ सकता है जिसके आस-पास बत्तखमुखी के पग-चिह्न पहचाने जा सकते हैं। भूमि नम होने से पैर की छाप स्पष्ट बनी होती है। जो पगचिह्न कुछ विशेष आर्द्र और ऊपर की ओर निर्देशित हो वह बत्तखमुखी के अपने विवर से बाहर जाने का होता है। परन्तु जो अपेक्षाकृत सूखा और नीचे की ओर निर्देशित हो वह यह प्रकट करता है कि यह जन्तु विवर में बाहर से लौटा है इसलिए वह विवर में मौजूद होगा।

विवर की थोड़ी मिट्टी खोद लेने पर उसकी दिशा ऊर्ध्ववर्ती

हंसक मुखी (बत्तखमुखी) का बिल

मिलती है जहाँ से वह टेढ़े-मेढ़े मार्गों से बड़ी दूर तक गया होता

है। बीस से तीस फुट तक औसत लम्बाई होती है परन्तु पूरे पचास फुट लम्बे विवर भी मिल सके हैं। उसकी भयानक वक्रता देखकर खनक भी खोदने को साहस छोड़ बैठते हैं।

विवर की विकट वक्रता का कोई नपा-तुला रूप नहीं कहा जा सकता है। किसी भी दो विवर की वक्रता एक रूप की नहीं होती। मार्ग में जड़ें तथा पत्थर मिलने से भी बत्तखमुखी विवर की दिशा टेढ़ी-मेढ़ी करता जाता होगा। विवर की छोर पर जननकक्ष होता है जिसकी चौड़ाई विवर से अधिक होती है। उसका आकार दीर्घ-वृत्तीय या अंडाकार होता है। सूखे जलीय वनस्पति, घास आदि की यथेष्ट व्यवस्था होती है जिस पर नवजात शिशु विश्राम कर सकें। अपनी वृद्धि के अर्द्धांश काल प्राप्त करने तक शिशु विवर में ही रहते हैं।

हंसकमुखी के विवर में पानी के ठीक ऊपर लंबवत् भाग भी होता है। उसमें वह चढ़ जाने की शक्ति रखता है। अपने शरीर को एक ओर की दीवाल से दबाकर दूसरी दीवाल से पैर दबाकर वह ऊपर की ओर चढ़ता है।

कंटकीय कीटभक्षक (एचिडना)

विचित्र रूप के जन्तुओं में रोम के स्थान पर शल्य या कांटे उत्पन्न करने वाले जन्तु भी हैं। योरप में इंगलैंड से लेकर स्पेन, इटली, सिसली और ग्रीस (यूनान) तक कंटकीय मूषक की उत्कृष्टतम जाति मिलती है। उसी की गहरे रंग की जाति हंगेरी, उत्तरी बोहेमिया, तथा पूर्वी जर्मनी में मिलती है। एशिया तथा उत्तरी और पूर्वी अफ्रीका में भी इसकी सम्बन्धी जातियाँ मिलती हैं। इसके शरीर पर कड़े लम्बे बालों का ही रूप कांटे समान हो गया होता है। भयग्रस्त होने पर यह अपना शरीर समेट कर तुरन्त

कँटीली गेंद-सा बन जाता है। पश्चिमी पाकिस्तान के शुष्क भागों में भी यह पाया जाता है।

दूसरा कंटकीय जन्तु शल्यकी या साही जगत्प्रसिद्ध है। रोम के कड़े पन की पराकाष्ठा ही नहीं पहुँची होती, बल्कि इतना अधिक परिवर्तित, बृहद् तथा नोकीला रूप हो गया होता है कि साधारण व्यक्ति को साही का कांटा दिखाकर उसे रोमवत् कोई वस्तु बताया जाय तो वह इसे निराधार, सर्वथा मिथ्या कल्पना ही घोषित कर उठेगा। फिर भी वैज्ञानिक तथ्य तो ऐसा ही है।

कंटकीय कीटभक्षक शल्य की समान विकट कांटे तो नहीं उत्पन्न करता, परन्तु कंटकीय मूषक से उसके कांटे अवश्य अधिक बड़े और तीखे होते हैं। यह आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा टस्मानिया के विचित्र जन्तुओं में से है।

कंटकीय कीटभक्षक छोटे आकार के ही भारी भरकम शरीर तथा छोटे पैरों का कंटकीय जन्तु है। यह अन्डे से उत्पन्न दुग्धपायी जन्तुओं में से हैं जिन्हें अण्डज स्तनपोषी कहते हैं। इसके शरीर की लम्बाई २० इञ्च तक होती है। थूथन लम्बोतरा बन कर रोमहीन नली समान होता है। बिल्कुल अन्त में छोटा मुख होता है। जीभ लम्बी, केंचुए समान और अत्यधिक प्रसरणशील होती है। यह चीटियों तथा दीमकों को खाकर जीता है।

कंटकीय कीटभक्षक विकट खनक होता है। छोटा शरीर होने पर भी कठोर भूमि में विवर खोद लेता है। यह किसी बड़े पत्थर के ढोंके के नीचे केवल अपना चङ्गुल प्रविष्ट करने का स्थान पा जाय तो उसे उठा फेंकता है। इसको बन्दी बना सकना कठिन होता है। पक्की दीवाल भी खोद फेंकता है। मैदान में भी यह इतनी तीव्र गति से बिल खोदता है कि इसे पा सकना कठिन हो सकता है। अपनी पीठ सिकोड़ कर यह कुबड़ी बना लेता है, पैर

शरीर से चिपका लेता है तथा पजे से भूमि खुरच कर भूमि में इस प्रकार धँसता जाता है मानो किसी पात्र के शीरा में पत्थर का ढाका डूबता चला जा रहा हो।

कंटकीय कीटभक्षक के चङ्गुल केवल खोदने में ही कुशल नहीं होते वे कोई वस्तु बलपूर्वक पकड़ने में भी उपयुक्त होते हैं। इस गुण के कारण वह किसी वस्तु से जोर से चिपक जाता है। ऐसी दशा में उसे खींच लेना कठिन होता है। एक ओर तो उसके शरीर के काँटे चुभते हैं, दूसरी ओर वह दृढ़ता से चिपका रहता है। पैर उसके शरीर से इस प्रकार सटे होते हैं कि उन्हें पकड़ सकना असम्भव होता है। किसी प्रकार इसके पिछले पैर को पकड़ कर ही हाथ में लिया जा सकता है। अन्यथा यह दुलत्ती भी इतने झटके से मारता है कि वस्त्र तथा हाथ फट जायें।

—o—

विवरवासी पक्षी

मीनरङ्क (किंग फिशर)

मीनरङ्क (कौंडिल्ल) ऐसा पत्ती है जो दूसरों के परिश्रम से बनाए गृह में ही डेरा डालने का सुभीता ढूँढ़ता है। यह जलखंडों के निकट रहने वाला पत्ती है। अतएव सन्तानोत्पादन काल में कहीं अन्यत्र जाने की इच्छा नहीं रखता। अतएव जल-खंड के कगारों में ही इधर-उधर कोई छिद्र ढूँढ़ता है। बिलस्थ शशक का विवर इसके लिए पसन्द पड़ता है, किसी जलमूषक का त्यक्त बिल भी उपयोग में ला सकता है। अपनी इच्छा के अनुसार कोई छिद्र मिल जाने पर उसे मुँह के निकट सँवारता है तथा भीतर का भाग नए सिरे से खोद कर ऐसा बनाता है कि वह ऊपर की ओर पीछे चढ़ा हो। पानी का तल ऊँचा होने पर सङ्कट उत्पन्न होने से बचत पाने के लिए यह व्यवस्था करता है। भीतरी भाग ऊँचा रहने से उसमें विद्यमान हवा पानी का प्रवेश भीतर नहीं होने दे सकती। पानी की बाढ़ कितनी भी हो, उसके विवर के भीतरी भाग में पानी जाने से रुक सकता है।

मीनरङ्क का बनाया घोंसला आकृति तथा उसके निर्माण में उपयुक्त पदार्थ के कारण विचित्र होता है। पत्ती विज्ञान के अध्ययन-कर्त्ताओं के विचारानुसार पूर्ण घोंसला मछलियों की हड्डियों से निर्मित होता है। अधिकांशतः छोटी मछलियों का कङ्काल उपयुक्त होता है। जब यह पत्ती उन मछलियों को खाता है तो मांस खंड

पच जाने के पश्चात् कङ्काल की हड्डियाँ मल रूप में विसर्जित हो जाती हैं। उल्लू भी अपने विसर्जित मल के शलाका समान खंडों से अपने घोंसले को बनाता है जिस पर वह अंडे देता है। मीनरंक

मीनरंक (कौंडिल्ल) का बिल
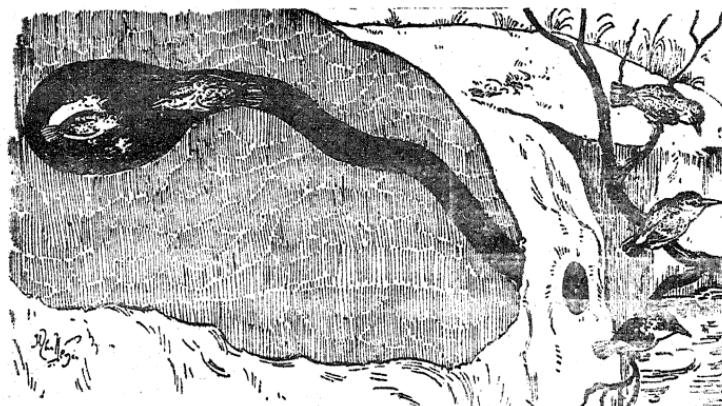
के घोंसले की दीवाल आधी इञ्च मोटी होती है और वह बड़ा चपटा होता है। गोल आकार तथा उसमें छिछला गड्ढा इस बात को सिद्ध करता है कि पत्ती हड्डियों के जमघट को यथार्थतः घोंसले रूप में बनाता है और वह मल के बिखरे पड़े खण्डों के ही ऊपर अण्डे नहीं देता। मल का यह अस्थिभंडार सञ्चित होकर घोंसला रूप धारण करने में कुल तीन सप्ताह लगते हैं।

बहुत थोड़े समय में ही मल रूप में विसर्जित अस्थियों का भण्डार जुटाने और घोंसला बनाने में सूखने का अधिक समय नहीं रहता। इसी कारण उसमें अधिक बदबू रहती है। वह एक ऋतु में आठ-दस अंडे तक देता है, किन्तु उन्हें सावधानी से हटा दिया जाया करे तो वह मुर्गियों की भाँति वर्ष भर अंडा देता चला जाय।

मीनरङ्क अपने भुक्खड़पन के लिए प्रसिद्ध है। उसके पेटूपन के कारण प्राण के लाले पड़ने की पचीसों कहानियाँ सुनी जाती हैं। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक का कथन है कि एक बार एक मीनरङ्क (कौडिल्ल) ने एक बड़े सिर की मछली को पकड़ा और उसे निगलने का प्रयत्न करने लगा किन्तु मछली के बड़े सिर के कारण वह चक्कर में पड़ गया। मछली का सिर उसके गले से उतर ही नहीं सकता था। इस कारण उसका गला अवरुद्ध हो गया। बड़ी भूख लगने पर उसने ऐसे बड़े सिर की मछली को निगलना प्रारम्भ किया होगा। इतना बड़ा ग्रास तो उसके आमाशय में अँट भी नहीं सकता था। इसी तरह के कितने अन्य उदाहरण मिलते हैं।

एक दूसरे वैज्ञानिक ने लिखा है कि एक मीनरङ्क ने एक शिशु मुर्गाबी को ही निगलने का प्रयत्न किया, परन्तु इसमें उसे पूर्ण असफल होना पड़ा। एक अन्य व्यक्ति का कथन है कि उसने एक नदी के तट पर अवलोकन करते हुए कोई नीली वस्तु बहते और पानी में जोर से छटपटाते देखा। निकट आने पर ज्ञात हुआ कि एक मीनरङ्क के गले में मछली अँटकी थी, मछली की पूँछ और धड़ का कुछ अंश मीनरङ्क के मुख से बाहर लटका था। मछली तो अपने प्राण बचाने के लिए तड़फड़ा रही थी और मीनरङ्क उसे उदरस्थ करने के प्रयत्न में था। किसी प्रकार मीनरङ्क की जीत होती जान पड़ी, मछली की तड़फड़ाहट अधिकाधिक शान्त होने लगी। वह मुर्दा ही हो गई किन्तु इसी समय एक हिंसक जलजन्तु ने पानी से ऊपर मुख कर इन दोनों को पकड़ लिया और निगल गया। मीनरङ्क का इस प्रकार अन्त हुआ।

साधारण मीनरङ्क (कौडिल्ल) नीले हरे मिश्रित रङ्ग का पक्षी है। किन्तु अधोतल मोर्चे के रङ्ग का मटमैला लाल या ताम्रवर्ण होता है। पूँछ बौंड़ी (अधकटी) सी होती है। चोंच लम्बी और

नोकीली होती है। यह घरेलू गौरैया (गृह कुलिंग) के आकार का ही पक्षी है। यह हमारे देश में सर्वत्र पाया जाता है। कहीं नदी तालाब के तट पर या पानी के ऊपर लटकी किसी डाल पर एकाकी बैठे मिल सकता है। अचानक पानी के तल पर वेगपूर्वक उड़ते भी पाया जाता है। यह जंगलों तथा बरसाती पहाड़ी नालों से दूर रहता है। किसी लट्ठे या पानी के अन्दर खड़ी चट्टान या वृक्ष की डाल पर मछली की ताक में बैठा रहता है। अचानक एक भार की तरह वह पानी के तल पर कूद कर पानी के भीतर भी चला जाता है और शिकार पकड़ कर फिर तुरन्त उड़ जाता है। कहीं वृक्ष की डाल पर बैठ कर पकड़ी हुई मछली केकड़े आदि को खा जाता है। इसका प्रसारक्षेत्र योरप, उत्तरी अफ्रिका और एशिया है।

भारत में साधारण मीनरङ्क का विवर कगारों में पाया जाता है। वह दो इञ्च व्यास का होता है। एक फुट से लेकर चार फुट तक उसकी गहराई होती है। अन्तिम भाग में घोंसले का चौड़ा कक्ष होता है जो ५,६ इञ्च चौड़ा होता है।

श्वेत वक्ष का मीनरङ्क आकार में मैना और कबूतर का मध्यवर्ती होता है। इसके सिर और गर्दन का रङ्ग कत्थई होता है। वक्ष-स्थल श्वेत होता है। उसके अतिरिक्त शेष अधोभाग भी कत्थई होता है। इसकी लम्बी, भारी नोकीली चोंच लाल रंग की होती है। इसकी उड़ान के समय पङ्ख में एक श्वेत पट्टी दिखाई पड़ती है। यह पानी से दूर के खेतों और विरल वृक्षों के मैदान में भी पाया जाता है। बाँध तथा कगारों के पार्श्व में २½ इञ्च व्यास का ६ या ७ फुट लम्बा विवर खोदता है। अन्त में ८, ६ इञ्च चौड़ा जनन-कक्ष या घोंसला होता है। इस पक्षी का प्रसार एशिया माइनर से लेकर ईरान, भारत, बर्मा, मलाया और दक्षिणी चीन तक है।

वभ्रुशीर्ष मीनरङ्क कबूतर से कुछ छोटा होता है। इसकी

विशाल, नोकीली लाल चोंच तथा मटमैला भूरा सिर पहचान है। इसका विवर ४ इञ्च व्यास तथा २, ३ फुट लम्बाई का होता है।

दिव्यक (पतेना)

दिव्यक या पतेना (बी-ईटर) की साधारण जाति हरित दिव्यक या हरा पतेना कहलाती है। गौरैया के बराबर ही इसका आकार होता है। यह कृशकाय पक्षी है जिसका करीर चटकीले हरे रङ्ग का होता है। सिर तथा गर्दन पर लाल भूरापन रंग मिश्रित होता है। पूँछ का मध्यवर्ती पर (पतत्र) लम्बा होकर कुन्द पिन या पतली सलाई की भाँति दिखाई पड़ता है। चोंच पतली, लम्बी और कुछ थोड़ी झुकी होती है। इसका प्रसार मिस्र से लेकर भारत, सिंहल, बर्मा, थाईलैंड और कोचीन चीन (हिन्द-चीन) तक है। पूँछ की लम्बाई सलाईनुमा। पर मिलाकर शरीर की कुल लम्बाई ९ इञ्च होती है। इसके कंठ में काली धारी भी होती है। आँख के आगे-पीछे भी काली धारी होती है।

साधारण दिव्यक सारे भारत में पाया जाता है। खेतों के निकट मैदानों में रहता है। समुद्र के तट पर बलुहे कगारे के निकट रहना इसे अधिक प्रिय होता है। यह बाँधों, सूखे नाले के कगारों, खड्डों आदि की दीवाल में डेढ़ इञ्च व्यास का बिल एक फुट से छः या दस फुट तक लम्बा बनाता है। बलुहे स्थल में यह चौरस भूमि में भी तिरछा बिल खोद लेता है। अन्तिम भाग में ५ इञ्च चौड़ा घोंसला या जनन-कक्ष बना होता है जिसमें कुछ बिछाया नहीं होता। दिव्यक का सारा विवर उसकी ही रचना होती है। वह बड़े ही परिश्रम से विवर खोदता है। नर और मादा दोनों ही खोदने में जुटे रहते हैं। खुदाई कर चुकने पर इनकी चोंचें

इतनी घिस चुकी होती हैं कि पहले की अपेक्षा वे आधी बन गई होती हैं।

दिव्यक (पतेना) दुर्बल पैरों का पक्षी है। भूमि पर चल या उचक सकना दुष्कर होता है। अतएव वह वृक्ष पर से ही उड़-उड़ कर वायु में कीटों को पकड़ता और खा जाता है। उड़ान से लौट कर पुनः वृक्ष की डाली, तार या खम्भे के पूर्व स्थान पर लौट आता है। केवल सन्तान-उत्पादन के लिए ही यह तट की कगारों वाली भूमि या बाँध आदि में विवर बनाता है। यह समाजप्रिय है। बहुसंख्यक दिव्यकों के बिवर उपनिवेश रूप में एक स्थान पर बने मिलते हैं। वृक्ष पर भी सैकड़ों दिव्यक रात को साथ बसेरा लेते पाए जाते हैं।

नीलपुच्छ दिव्यक

नीलपुच्छ दिव्यक या पतेना बुलबुल के बराबर होता है। इस की पूँछ का रङ्ग नीला होता है। उसमें से एक सुई या सलाईनुमा पर शेष परों से आगे दो इञ्च बढ़ा होता है। उस सलाई को मिला कर इसके पूर्ण शरीर की लम्बाई बारह इञ्च होगी। चोंच से लेकर आँखों पर होकर एक काली पट्टी होती है जिस पर नीचे ऊपर ही रङ्ग की कगर (मगजी) सी होती है। कंठ पीला तथा अगला वक्ष बादामी होता है। यह एशिया के भागों में पाया जाता है।

नीलपुच्छ दिव्यक हरित दिव्यक समान स्थानों में ही रहता है, परन्तु यह अधिक हरियाली के स्थान तथा नदी झील आदि के निकट की भूमि पसंद करता है। यह उपनिवेश रूप में विवर बनाता है। नदी नालों के बलुहे या मिट्टी के कगारों या ईंटों के ख़ाली भट्ठों की दीवारों में दो इञ्च व्यास का बिल बनाता है जो ४ से ७ फुट तक लम्बे होते हैं। विवर बिल्कुल सीधा नहीं होता।

अन्त में घोंसला या जनन-कक्ष गोल होता है। उसमें कभी-कभी विरल रूप की घास या पर बिछे होते हैं।

बभ्रुशीर्ष दिव्यक

भूरे रङ्ग का सिर होने से यह बभ्रु (भूरा) शीर्ष कहलाता है। यह भी बुलबुल के ही बराबर होता है। यह हरित दिव्यक तथा नीलपुच्छ दिव्यक का मध्यवर्ती कहा जाता है। इसकी लम्बाई ८½ इञ्च होती है। परन्तु सलाईनुमा पूँछ का बढ़ा भाग नहीं होता। सिर, गर्दन तथा अगली पीठ बादामी होती है। ठुड्डी तथा कंठ पीला होता है। इसकी पूँछ चौकोर होने से इसे सहज पहचाना जा सकता है। यह हिमालय की तराई में कमायूँ की पहाड़ियों से लेकर आसाम, बर्मा तथा मलाया तक पाया जाता है। दक्षिण भारत में भी पाया जाता है।

हरियाली के स्थानों में नदी-नालों के कगारों में इसके विवर बनते हैं। कभी-कभी चौरस बलुहे मैदान में भी तिरछे विवर बने मिलते हैं। वे कुछ इञ्चों से लेकर कई फुट तक लम्बे होते हैं। विवर का व्यास दो इञ्च होता है। अन्त में चौड़ा भाग घोंसला या जननकक्ष होता है जिसमें किसी वस्तु का अस्तर नहीं होता। भूमि के प्रकार पर ही विवर की लम्बाई निर्भर करती है। नर्म बालू में १० फुट तक लम्बे विवर पाए गए हैं। बाढ़ आने पर ये किसी दूसरे नाले के कगार में नया विवर बना लेते हैं। ये कभी-कभी उपनिवेश रूप में विवर बनाते हैं, परन्तु प्राय: थोड़ी-थोड़ी दूर पर कई जोड़े दिव्यक विवर बनाते हैं।

त्रिकोणचंचु या समुद्रसारिक (पफिन)

पफिन पक्षी यथार्थ बिलस्थ होते हैं किन्तु आवश्यकता पड़ने पर ही विवर खोदते हैं। यह केवल एक अंडा देते हैं और उसे कहीं

गहरे विवर में रखते हैं। यदि किसी बिलस्थ शशक या अन्य जन्तु का बना-बनाया विवर ही मिल जाय तो उसे प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण

शशक के बिल पर त्रिकोणचंचु (पफिन) का अधिकार

करते हैं। अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए ये बिलस्थ शशक (रैबिट) को स्थानच्युत करने का उद्योग करते हैं। कोई अपना घर-बार सहज ही परित्याग नहीं कर सकता। अतएव बिलस्थ शशक अपने बिल पर अधिकार बनाये रखने के लिए संघर्ष करते हैं किन्तु ऐसे संघर्षों में पफिन ही विजयी होता है। पफिन के बलिष्ठ चंचु तथा अटूट साहस के कारण बिलस्थ शशक संघर्ष में टिक

नहीं सकता। यदि पफिन को कोई बना बनाया विवर न मिले तो वह स्वयं ही वृहद् आकार का विवर खोद डालता है।

पफिन विचित्र पक्षी है। इसके शरीर की लम्बाई लगभग एक फुट होती है। चोंच त्रिकोणीय होती है तथा तोते की चोंच समान आड़े गड्ढों या दरारों युक्त होती है। ग्रीष्मकाल में चोंच का रङ्ग नीला, पीला और लाल होता है। शीतकाल में भूरा और नारंगी होता है। शरीर का ऊपरी तल काला, मुख हल्का धूसर और अधो-तल श्वेत होता है। पैर और उँगलियाँ ग्रीष्म में लाल और शीत-काल में पीली होती हैं। मुख का भीतरी भाग पीला होता है। प्रौढ़ पक्षियों में शीतकाल में ग्रीष्मीय चोंच के आधारस्थल का ऊपरी भाग झड़ जाया करता है। इसलिए इसे चंचुपाती भी कह सकते हैं। यह पानी में पंख के बल तैर सकता है। पीछा किए जाने पर उड़ने की अपेक्षा पानी में डुबकी लगा लेता है। यह आधे मिनट या उससे भी अधिक तक डुबकी लगाए रह सकता है। मछली या पानी के पेटे में रहने वाले कोशस्थ जन्तुओं (घोंघों) और केकड़ों आदि को खाता है।

सेंट लारेंस की खाड़ी, लेब्रडर, ग्रीनलैंड, आइसलैंड, इंगलैंड, फेरो द्वीप, स्पिट्सबर्गेन, तथा नोवा-जेम्बिया आदि अन्य द्वीपों और नदियों के मुहाने में इसका जनन-क्षेत्र है। जाड़े में भूमध्य सागर तक चला आता है।

त्रिकोणचंचु या पफिन समाजप्रिय जन्तु है। चट्टानों के ऊपर या नीचे घास उगे ढालों या घास उगे पहाड़ी द्वीपों पर विशाल उपनिवेश बनाकर रहता है। चट्टानों या ढाल के छेदों में अण्डे देता है या विवर स्वयं खोदता अथवा अन्य जन्तु का बनाया बिल हड़प लेता है और उसमें अण्डे देता है। नर्म भूमि के द्वीपों में विवर खोदने की सुविधा होने पर खुदाई के लिए स्थान चुनता है।

नर पफिन मुख्य खनक होता है, परन्तु मादा भी खनन कार्य (खुदाई) में सहायता करती है। विवर खोदने में यह पक्षी इतना अधिक व्यस्त रहता है कि उसे विवर में हाथ डालकर पकड़ लिया जा सकता है। विवर की औसत लम्बाई तीन फुट होती है। वह प्रायः सीधी नहीं होती। वक्र रूप में बनी होती है। उसमें दुहरा द्वार भी होता है। भीतर किसी प्रकार का घोंसला निर्मित नहीं होता। विवर के अन्त में नग्न तल पर ही अंडे देता है। इस कारण अण्डा प्रारम्भ में श्वेत होने पर भी यह कुछ ही समय में इतनी गहरी छीटों युक्त हो जाता है कि उसका पूर्व रूप अनुमान करना कठिन हो सकता है।

पफिन के विवर इतने गहरे होते हैं कि यदि यात्री उस चट्टान के छोर पर चलता है जिसके नीचे पफिन अण्डे देता है तो यात्री अपने पैर के व्याघात के कारण पक्षियों के शब्द करने, गले में श्वास गड़गड़ाने की ध्वनि को सुन सकता है। शिशु पफिन को माता-पिता विवर के अन्दर छः सप्ताह तक चारा चुगाते हैं। शिशु स्वयं एक सप्ताह तक विवर में पड़ा रहता है। उसके बाद रात को समुद्र में चला जाया करता है। वह उस समय उड़ने से विवश रहता है। केवल तैर ही सकता है। उसके अनेक शत्रु होते हैं। अभी उसकी चोंच पूर्ण विकसित नहीं रहती। अतएव माता-पिता अपने शिशु की रक्षा का सब कुछ प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कहा जाता है कि शत्रु से जीत न सकने पर अन्तिम उपाय रूप में वे शत्रु को चोंच में पकड़कर स्वयं भी उसी के साथ समुद्र में कूद पड़ते हैं। किन्तु पफिन बड़ा कुशल तैराक होता है। समुद्र का लहरों में वह तैर और डुबकी लगाकर विजयी बन सकता है।

शैलचटी (सैंड-मार्टिन)

विवर खोदने वाले सर्वोत्तम पक्षियों में शैलचटी की गणना

की जाती है। यह जितना अधिक श्रम सुगमता से सम्पन्न करता है उसके लिए इस भव्य क्षुद्राकार पक्षी की शक्ति अत्यन्त असंतोषजनक जान पड़ती है। इसकी नन्हीं सी चोंच देख कोई भी नहीं कह सकता कि यह यथेष्ट कठोर पाषाण में छिद्र कर सकने में समर्थ हो सकता है। किन्तु यथार्थ तथ्य यही है कि शैलचटी ऐसे पत्थर में भी विवर खोद लेता है जिसे खुरचने में छुरी की तीव्र धार बिल्कुल नष्ट हो जाय।

शैलचटी पक्षी सुगमता के कार्य की अपेक्षा कठिनता के कार्य को कभी भी अच्छा नहीं समझता। यदि उसे ऐसा कोई स्थल मिल जाय जो नर्म हो और उसके पार्श्व धँसने का भी भय न हो, तो उस स्थल की सुविधा को अवश्य स्वीकार करेगा। ऐसे अनेक उदाहरण देखे गए हैं जिनमें इस पक्षी ने कठोर पत्थर की तहों के मध्य कोमल स्तर को विवर बनाने के लिए चुना जिसमें केवल खुरचकर शिथिल मिट्टी बाहर फेंक देने की ही आवश्यकता हो।

जब कभी शैलचटी को ऐसा सुविधाजनक स्थान नहीं मिलता जिसमें खुदाई का कार्य बहुत कठोर न हो तो वह स्थान-स्थान पर चोंच मारकर स्तरों की कठोरता तथा कोमलता की परीक्षा करना प्रारम्भ करता है। अन्त में कोई कोमल स्तर मिल जाता है। फिर वह गोलार्द्ध की दिशा में खुदाई प्रारम्भ करता है। इसके लिए यह अपने पैर को धुरी सी बनाकर चारों ओर शरीर घुमाने लगता है, घूमते समय चोंच से भूमि भी खुरचती जाती है। चोंच मार-मारकर चारों ओर खुदाई कर वह शीघ्र ही एक गोल बिल बना लेता है। कुछ दिनों बिल में रहने के बाद उसके चारों ओर के भीतरी तल ऊँचे-से हो जाते हैं, परन्तु खुदाई होने के समय बड़ी चिकनी दीवालें रहती हैं और विवर बिल्कुल गोल नलिकाकार होता है। प्रत्येक अवस्था में बिल कुछ ऊर्ध्ववर्ती होता है जिससे वर्षा का पानी

उसमें न जमे। बिल की लम्बाई विभिन्न होती है। औसत ढाई फुट लम्बाई होती है।

शैलचटी के विवर की दिशा प्रायः सीधी होती है किन्तु कभी-कभी वह टेढ़ी हो जाती है। यदि कोई जड़ या छोटा-मोटा पत्थर बीच में पड़ जाय तो कुछ मार्ग टेढ़ा कर शैलचटी विवर खोदने लगता है किन्तु मार्ग में बड़ा पत्थर आ जाय तो वह विवर को अधूरा ही छोड़कर कहीं अन्यत्र खुदाई कर विवर बनाने का प्रयत्न करने लगता है। इस प्रकार के अनेक अधूरे विवर पथरीले कगारों में देखने को मिल सकते हैं जो शैलचटी के निष्फल प्रयास के परिणाम ही होते हैं।

विवर के अन्तिम छोर पर जननकक्ष या घोंसला होता है। उसकी चौड़ाई विवर की चौड़ाई से अधिक होती है। वह बहुत ही साधारण रूप का होता है। उसमें कुछ सूखी घास बिछी होती है। कुछ नर्म पर (पतत्र) भी उसमें मिले होते हैं जो पक्षी के शरीर के भार के कारण बैठने से कुछ दबा रहता है। इस मामूली घोंसले के ऊपर अंडे दिए जाते हैं। अण्डे बहुत ही छोटे और हल्के गुलाबी श्वेत रंग के होते हैं।

अण्डा सेने के कार्य के समय शैलचटी को कोई शत्रु हानि नहीं पहुँचा सकता। नर्म बलुही मिट्टी को चूहे पकड़कर चढ़ नहीं सकते। वीजेल (काष्ठनकुल) भी विवर में पहुँचने में कठिनाई अनुभव कर सकता है। जब शिशु शैलचटी जन्म धारण कर लेता है तो अनेक शत्रु उसकी ताक में पड़ जाते हैं। कौए तथा दृध्यक (दहँगल) विवर के द्वार पर प्रतीक्षा करने लगते हैं जिससे शिशुओं के उड़ने में अनभ्यस्त होने के कारण उन्हें पहली उड़ान के समय ही हड़प लें। कुलिंग-श्येनक (स्पैरो हाक) तथा रंगणश्येन (केस्ट्रेल)

भी बीच में ताक में रहकर कितने शैलचटी को विवर से बाहर होते ही ले भागते हैं।

शैलचटी मक्खियों को उड़ते समय ही पकड़ खाता है, इसलिए उसके इस कल्याण-कार्य के कारण उसके विवरों के उपनिवेश के निकट रहने वाले लोग इनके बिलों में मनुष्य का हाथ लगने न देने का प्रयत्न करते हैं। किसी प्रकार मनुष्य के कौतूहल द्वारा ही इनका नाश होने से छुटकारा मिलता है।

समुद्रकाक (स्टार्मी पेट्रेल)

एक ओर तो समुद्र की भीषण लहरों के ऊपर कुछ उड़ान और कुछ दौड़ का संयुक्त प्रयत्न कर समुद्रकाक अपनी कुशलता का परिचय देकर चलता है और दूसरी ओर यही उदधिगामी स्थल पर खुदाई कर विवर निर्मित कर दिखाता है। समुद्र-गमन में कितनी भी कुशलता हो, परन्तु पक्षी विहंग ही है, समुद्र पर अपने जन्म धारण करने के लिए आधारित होकर वह कुल-गौरव कलंकित नहीं होने देता। अपने विवर के लिए वह यदि कोई बना-बनाया गड्ढा प्राप्त कर सकता है तो उसे ही ग्रहण कर लेता है। इस उद्देश्य से वह तटीय भूमि का पर्यवेक्षण करता रहता है। कोई उपयुक्त छिद्र पाकर उसी में अण्डे दे देता है।

कोई भी स्वाभाविक या अन्य प्राणी के बनाए छिद्र या विवर को न पाकर विवशता की दशा में वह विवर खोदने के लिए स्वयं तत्पर होता है। बलुही भूमि के ऊपर भी निवास बनाकर वह संतुष्ट हो सकता है। नोवास्कोटिया में बहुत से निम्नतलीय द्वीप हैं। उनके ऊपरी भाग बलुहे से हैं। निचले भाग पंकिल हैं। ऐसे स्थल में किसी प्राकृतिक छिद्र के होने की आशा नहीं की जा सकती। फिर भी उन द्वीपों में हजारों की संख्या में समुद्रकाक सन्तानोत्पादन के

लिए पहुँचते हैं। ये बड़े अध्यवसाय पूर्वक बलुही भूमि में विवर
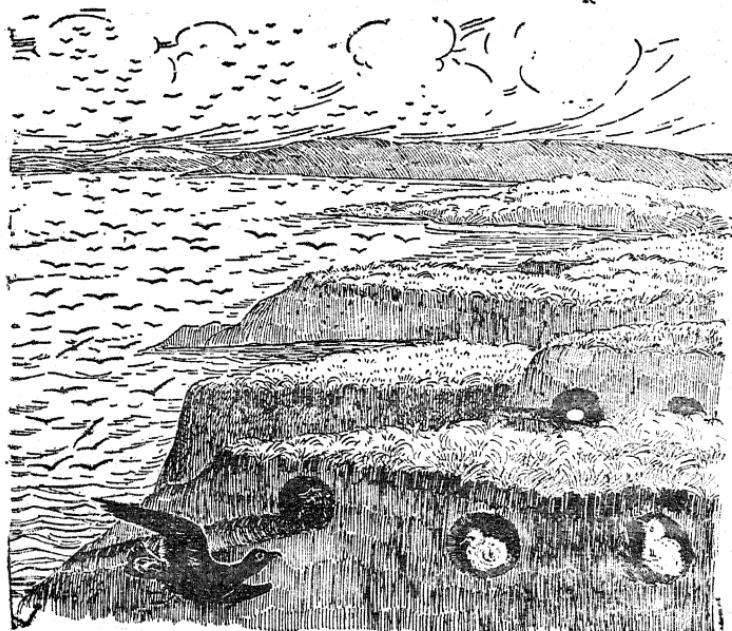
समुद्रकाक (स्टार्मी पेट्रेल) का बिल

बनाते हैं। एक फुट से अधिक गहरा विवर कदाचित् ही कभी खोदते हों। यथार्थ में वे इतना ही गहरा गर्त्त या विवर बनाते हैं जिसमें स्वयं तथा अण्डे बच्चे को छिपा सकें।

प्रत्येक समुद्रकाक केवल एक अण्डे देता है। अण्डा छोटे ही आकार का और श्वेत होता है। नवजात शिशु विचित्र आकार के होते हैं। नन्हें शिशु के स्थान पर वे कोमल श्वेत रोम के फाहे से जान पड़ते हैं। माता-पिता दत्तचित्त होकर उसका पोषण करते हैं। इन पक्षियों के पाचक अंगों में एक तैल स्रवित होता है। वे

शिशुओं को उसी का पान कराते हैं। यह तैल इतना अधिक स्रवित होता है कि संसार के कुछ भूभाग में मूलवासी समुद्र काक को ही लैम्प सा प्रयुक्त करते हैं। उसके अङ्ग में केवल बत्ती प्रविष्ट कर उसे जलाकर प्रकाश प्राप्त करते हैं। तेल तुरन्त ही बत्ती में चढ़ जाता है और वह इसी प्रकार जलने लगता है जैसे किसी भी प्राचीन अलंकृत दीपक में आदिम तथा भद्दे रूप में जल सकता हो।

यथेष्ट आहार ग्रहण करने पर कितने ही अन्य तटीय पक्षियों को प्रचुर मात्रा में वसा प्रदान करते देखा गया है। ज्वार-भाटा वाली नदियों के मटमैले तटों का भ्रमण करने वाले जलरंक पक्षी (चुपका) पंक में रहने वाले अनेक जन्तुओं का आहार करता है। वह अपने शरीर में इतनी प्रचुर वसा एकत्र कर लेता है कि उसकी खाल उतारना असम्भव कार्य होता है। उँगलियों की गर्मी से ही त्वचा तथा मांस के मध्य की वसा पिघल उठती है और तेल की भाँति परों के ऊपर प्रवाहित होने लगती है। यदि जलरंक के शरीर के वसा का इतना भंडार देखने का अवसर न मिला हो तो समुद्र काक को दीपक बनाने की घटना पूर्णतः कपोल-कल्पना ही ज्ञात हो सकती है।

समुद्रकाक अपने शिशुओं को केवल रात को ही खिलाता है। दिन भर वह उड़ता ही बिताता है और भूमि से बहुत अधिक दूर तक उड़कर पहुँचता रहता है। इस प्रवृत्ति तथा भारी समुद्री तूफानों के समय भी समुद्र में ही पड़े रहने के स्वभाव के कारण यह माँझियों के लिए भयानक रहता आया है। प्रबल इञ्जिन-चालित जलयानों के आविष्कारों के पूर्व समुद्रयात्रा में संलग्न माँझी तूफानों के उत्पन्न होने का कारण अपनी भ्रान्त धारणा के फलस्वरूप समुद्र-काकों को समझते रहें हैं। उनका तो यह भी विश्वास था कि समुद्र काक कभी भी स्थल भाग में नहीं जाते। वे समुद्र में ही अण्डे देते

हैं और उन्हें अपने पंखों के नीचे ही दबाए रखते हैं। अन्यथा उन्हें यह कैसे विश्वास होता कि तूफान को माँझी जहाँ यम का कोप समझते हैं उसी में समुद्रकाक स्वेच्छा से निवास करने वाला कोई साधारण पक्षी ही है जो केवल आहार के लिए उस विकराल वातावरण में दिन का समय व्यतीत करता है।

समुद्रकाक के लिए समुद्री तूफान ही प्राण है क्योंकि वह जिन समुद्री पदार्थों का भोजन करता है, वे तूफान के समय ही ऊपरी तल पर फेंक दिए जाते हैं। उन्हें डूबने के पहले ही वह झपट लेता है। किसी अदृश्य शक्ति के कारण समुद्रकाक को तूफान के आगमन का पहले ही पता चल जाता है अतएव समुद्र में उसके दिखाई पड़ते ही आगामी वातावरण को तुरन्त ही अनुमान कर अपने पालों को कम कर दिया करते थे। साथ ही इसे अपशकुन या विपत्ति का संवाददाता मानकर अपशब्द भी निकालते थे।

सन्तानोत्पादन काल में समुद्रकाक सतत आहार की खोज में रहता है। यह जहाजों को देखकर उनके साथ-साथ इस लोभ से चलता कि जो भी पदार्थ माझी समुद्र में फेंक दें, उसे वह खा ले या बच्चों को खिलाने के लिए ले जाय। वह रात भर अपने शिशुओं के साथ रहकर शब्द करता रहता तथा उन्हें खिलाता रहता है। उसका विवर अत्यन्त बदबूदार होता है। जिस तैल पदार्थ पर यह जीवित रहता तथा शिशुओं का पोषण करता है, वह भारी 'बदबू का कारण होता है। शिशु बड़ा दुर्बल तथा असहाय रूप में रहता है। वह कई सप्ताह तक विवर में ही रहता है।

काष्ठकूट (कठफोरवा)

पक्षियों के भूस्थित विवर स्वयं निर्मित होते हैं, या दूसरों के बनाए विवर ही अपनाए हो सकते हैं। किसी प्राकृतिक गड्ढे में भी

सुधार और खुदाई कर वे अपना काम चलाने योग्य विवर बना लेते हैं। इस तरह का प्रयत्न काठ के अन्दर भी पक्षियों को करते पाया जाता है। वे कभी स्वयं ही काठ खोदकर अपने लिए काष्ठ-विवर बना लेते हैं, या अन्य जन्तुओं द्वारा बनाए काष्ठ-विवर का ही उपयोग कर लेते हैं, अथवा वृक्ष के तनों या डालों में कहीं सड़ा गला भाग होने या कोई खोखला होने से उसी में काष्ठ-विवर निर्मित कर लेते हैं। काठ के अन्दर खुदा होने से इन विवरों को कोटर नाम दिया जाता है। ऐसे विवर बनाने वाले पक्षियों में काष्ठ-कूट (कठफोरवा) बहुत ही प्रसिद्ध हैं ।

कठफोरवा

काष्ठकूट की कितनी ही जातियाँ होती हैं। इनके उदाहरण संसार के अधिकांश भूभागों में पाए जा सकते हैं। चोंच, पैर और पूँछ की विचित्र रचना के कारण वे अन्य पक्षियों से विभिन्न पहचाने जा सकते हैं। उनकी चोंच छाल तथा काठ के खोदने में समर्थ होती है। पैरों में ऐसी क्षमता होती है कि पेड़ के तने से चिपके रह सकें। अन्य पक्षी भी वृक्षारोहण करते हैं, परन्तु कठ-फोरवा की वृक्षारोहण विधि विचित्र ही होती है। वह ऊपर की

ओर छोटी-छोटी कुदान या उचक रूप में चढ़ता है। उसकी तनी हुई पूँछ तने से चिपक जाती है और तिपाई के पाए समान काम देती है जिसमें दो पाए उसके पैर होते हैं, ऐसे ढङ्ग से वह तने पर भली-भाँति ठहर सकता है। उसकी चोंच की छोर रुखानी समान पैनी होती है। उसके द्वारा वह सड़ती लकड़ी का पता लगा लेता है और अन्दर सुरङ्ग बनाकर रहने वाली इल्ली को टटोलकर खा जाता है।

शल्कोदर काष्ठकूट (स्केली-बेलीड वूडपेकर) का शरीर १४ इञ्च लम्बा होता है। सिर के ऊपरी तल और चोटी का रङ्ग लाल होता है। शरीर के ऊपरी तल का रङ्ग हरा होता है। पूँछ के आधार-स्थल के निकट पीला रङ्ग भी प्रचुर मात्रा में मिश्रित होता है। मादा में सिर का रङ्ग लाल के स्थान पर काला होता है। इस काष्ठकूट का उदर हरा युक्त श्वेत होता है। उसमें काले शल्क (छिछड़े) से बने होते हैं। इसी कारण इसका नाम शल्कोदर काष्ठकूट है। कंठ और वक्ष फीका धूसर होता है।

शल्कोदर काष्ठकूट के पैर की उँगलियों में एक जोड़ा आगे की ओर तथा एक जोड़ा पीछे की ओर होती हैं। ऐसे रूप की उँगलियों से ही वृक्ष पर चढ़ना सम्भव हो सकता है। सभी काष्ठकूटों में ऐसे पैर ही होते हैं। इसका प्रसार ट्रांस-कास्पियन प्रदेश, बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान और पश्चिमी हिमालय है। यह नेपाल की घाटी तक पाया जाता है। ५००० फुट से लेकर ११००० फुट की ऊँचाई तक रहता है।

शल्कोदर काष्ठकूट अपना काष्ठ-विवर किसी तने या शाखा में बनाता है। उसकी लम्बाई २० से ३० इञ्च तक होती है। अन्त में जनन-कोटर होता है जो प्रायः कोई स्वाभाविक खोखला ही होता है और भीतर लकड़ी के सड़ने गलने से बना होता है।

वभ्रुभाल कर्बुर काष्ठकूट का शरीर आठ इञ्च ही लम्बा होता है। भाल और शीर्ष का रङ्ग वभ्रु (भूरा) होने से इसका नाम पड़ा है। शिखा का रङ्ग आगे के भाग में स्वर्णिम पीला तथा पीछे के भाग में लाल होता है। सिर, गर्दन और हनु के पार्श्व भाग सूक्ष्म मात्रा में काले के मिश्रण युक्त श्वेत होते हैं, शरीर का ऊपरी तल काला होता है जिसमें अग्र पृष्ठ तथा स्कंध प्रदेश में श्वेत छोटी-छोटी आड़ी पट्टियाँ भरी होती हैं। पंख काले होते हैं जिन पर श्वेत धब्बे होते हैं। पूँछ काली होती है। बाहरी परों में पीत श्वेत कगर होती है। इन रंगों से इसका रूप कर्बुर (चितकबरा) होता है। अधोतल पिंगल श्वेत होता है। उसमें भी रंगीन रेखाएँ, धब्बे आदि होते हैं। मादा में शिखा में सुनहला तथा लाल रंग नहीं होता। वह भाल तथा शीर्ष से कुछ अधिक पीला सा होता है।

इसका प्रसार पश्चिमी हिमालय में नेपाल तक है। २००० से ७५०० फुट तक मिलता है। ६००० फुट तक भी इक्के-दुक्के मिलते हैं। इसका काष्ठ-विवर सुन्दर बना होता है। उसमें घोंसला नहीं बना होता। छेद में नंगी लकड़ी पर ही अंडे दिए जाते हैं। प्राकृतिक कोटर भी उपयोग में लाता है।

पीतभाल कर्बुर काष्ठकूट के शरीर की लम्बाई सात इञ्च ही होती है। बुलबुल के बराबर आकार समझना चाहिए। इसका रङ्ग काले और श्वेत रङ्ग मिश्रित चितकबरा (कर्बुर) होता है, परन्तु शीर्षक का रङ्ग भूरायुक्त पीला होता है। उदर और गुह्यांग के समीप लाल रङ्ग होता है। मादा की शिखा का पिछला भाग लाल नहीं होता। इसका प्रसार सारे भारत, उत्तरी सीलोन, ऊपरी बर्मा तथा कोचीन चीन (हिंद चीन) में है। इसे मराठा कठफोरवा भी कहते हैं। हिमालय में २५०० फुट की ऊँचाई से लेकर दक्षिणी भारत की अन्तिम छोर तक यह पाया जा सकता है।

पीतभाल कर्बुर काष्ठकूट का काष्ठ-विवर वृक्ष की किसी शाखा में बना होता है। लंबवत् बाहर फैली शाखा के निचले तल में ही इसका कोटर होता है। उस काष्ठ-विवर का व्यास डेढ़ इञ्च होता है। वह १५ इञ्च लम्बा होता है। भीतर कोई घोंसला नहीं बनता। विवर के नंगे काठ पर ही अंडे दिये जाते हैं। भीतरी गड्ढा अनियमित रूप का ही होता है।

आरक्त काष्ठकूट विचित्र वृत्ति का पक्षी है। इसके शरीर की लम्बाई १० इञ्च होती है। इसका पूर्ण शरीर बादामी भूरा होता है। जहाँ-तहाँ कुछ विभिन्नता होती है। इसकी कई उपजातियाँ हमारे देश में पाई जाती हैं। यह कठफोरवा लाल चींटों से सम्बन्ध रखने के लिए प्रसिद्ध है। लाल चींटे (मटा) वृक्षों पर रहते हैं और अपने घोंसले या झोंझे पत्तियों को जुटाकर दृढ़ रूप का बनाते हैं। एक बार जिस जन्तु को ये पकड़ लेते हैं, उसे छोड़ नहीं सकते। अतएव ऐसे भयानक जन्तुओं से सभी जन्तु दूर रहते हैं, परन्तु आरक्त काष्ठकूट नहीं डरता। वह इनके संपर्क में रहता है। अपनी 'पूँछ के कठोर तल से दबाकर लाल चींटों को मार डालता है। पूँछ की रगड़ से उनकी धड़ अलग हो जाती है किन्तु उनका मुख पूँछ से चिपका ही रह जाता है। इस तरह बहुसंख्यक लाल चींटों के मुख पूँछ के निम्नतल में चिपटे पड़े रहते हैं। परन्तु इतना ही नहीं, लाल चींटों के दृढ़ घोंसले के अन्दर ही यह कठफोरवा अपना घोंसला-सा बना लेता है। भीतर अंडे देता है और शिशु उत्पन्न होते हैं। लाल चींटे उन्हें कोई बाधा नहीं पहुँचाते। यह विचित्र घटना है।

स्वर्णपृष्ठ काष्ठकूट मैना के आकार का पक्षी है। शरीर की लम्बाई ११ इञ्च होती है। इसके नर में शीर्ष तथा शिखा पूर्णतः लाल होती है। नर और मादा दोनों की पीठ सुनहली होती है। यह सारे भारत में पाया जाता है।

भारतीय काष्ठकूटों में यह प्रसिद्ध पक्षी है। शरीर के भव्य रङ्गों तथा अधिक साहस के कारण इसकी जाति प्रसिद्ध है। यह जङ्गलों से दूर खुले मैदानों तथा खेतों, वाटिकाओं आदि में रहता है। वहाँ पुराने वृक्षों में इसे शिकार करने का अवसर प्राप्त होता है। इन वृक्षों पर वह अकेले या जोड़े रूप में रहता है। वृक्ष के तने तथा डालों पर चढ़ने में व्यस्त रहता है। यह पैरों तथा पूँछ की सहायता से चिपक कर अपना शरीर तने या शाखा से लंबवत खड़ा रखता है किन्तु सिर ऊपर किए रहता है। टहनियों की संधि में यह कभी नहीं बैठता। तने या डाल पर कुछ नीचे किसी दरार या गड्ढे में कीट का पता लगाने के लिए भी वह नीचे की ओर उचक कर ही उतरता है।

स्वर्णपृष्ठ काष्ठकूट स्वयं ही काष्ठ-विवर खोदता है। उसका द्वार प्रायः ३ इञ्च व्यास का होता है। वह कुछ दूर आड़े रूप में ही जाकर फिर नीचे जाता है। नीचे अन्तिम भाग में ६ इञ्च व्यास का बड़ा कोटर होता है जिसमें लकड़ी के चूरे या कबाड़ पर अंडे दिये जाते हैं किन्तु काष्ठ-विवर खोदने के पूर्व यह छोटा या बड़ा कैसा भी प्राकृतिक कोटर ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है जिसे सुधार कर विवर बनाया जा सके।

पिप्पल (कठखोरा)

यह गोरैया से थोड़ा बड़ा पक्षी है। इसका रङ्ग घास-सा हरा होता है। चोंच भारी होती है। उदर पर हरे रङ्ग की रेखाओं युक्त पीला रंग होता है। वक्ष गहरा लाल होता है। पूँछ छोटी और चौकोर होती है। यह ठठेरे की तरह दिन भर ठुक-ठुक शब्द करता रहता है। यह सड़ान-गलान वाली डालों में ६ या ८ इञ्च गहरा छेदकर अपना काष्ठ-विवर बनाता है। उसे प्रतिवर्ष बढ़ा-बढ़ाकर
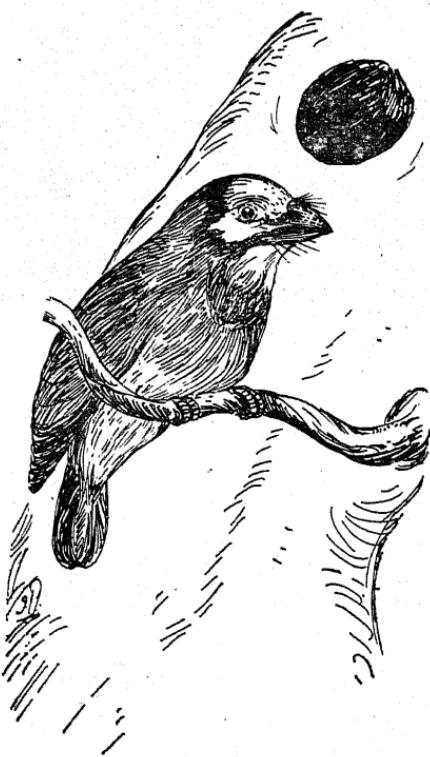
पिप्पल (कठखोरा)

बड़ा करता है .इसलिए उसकी गहराई कई फुट हो गई होती है। आड़ी डाल में काष्ठ-विवर बनाने पर नीचे की ओर ही द्वार रखता है। द्वार का व्यास दो इञ्च होता है।

वाध्रीणस (धनेश)

धनेश या वाध्रीणस धोबिया चील के आकार का पक्षी है। इसकी चोंच उजले और काले रङ्ग की तथा मुड़ी हुई होती है।

वाध्रीणस का को र

उसके ऊपर विचित्र उभाड़ होता है। दक्षिण भारत के मलावार तट पर पाये जाने वाले वाध्रीणसों में चोंच के ऊपर उभार नहीं होता। वे दूसरी जाति के होते हैं।

वाध्रीणस के शरीर का रङ्ग उजला काला मिश्रित होता है। वसंत के आगमन पर मादा धनेश किसी वृक्ष-कोटर में बन्दी बन जाती है। अपने बीट को सीमेंट की भाँति अपनी चोंच से कोटर-द्वार पर लिपटा लिपटा कर उसे छोटा कर देती है। अंडा देकर भीतर सेती रहती है। इस अवधि में नर वाध्रीणस उसे बराबर चारा लाकर खाने को दिया करता है। इनका कोटर आम, बरगद, पीपल आदि वृक्षों में बना होता है। कोटर का द्वार छोटा हो जाने से केवल चोंच ही भीतर जा सकती है अतएव मादा को बराबर आहार प्राप्त होता रहता है, परन्तु कोई शत्रु भीतर नहीं पहुँच सकता। सर्प या अनेक अन्य जन्तु उसके शत्रु होते हैं। उनसे रक्षा पाने का यही साधन होता है।

क्षुद्रतम उलूक

नागफनी के काँटे में कोटर बनाने वाले जानवर की मूर्खता प्रकट करने के लिए उल्लू नाम से पुकारा जाय तो कोई अनुचित नहीं, परन्तु प्रत्यक्ष क्षुद्रतम उलूक को ही कोटर बनाकर नागफनी में रहने का उदाहरण मिलता है तो क्या आश्चर्य किया जाय। उल्लू को मूर्ख भले ही कहा जाय परन्तु यह घोंसला बनाने का श्रम उठाए बिना ही काम निकालना जानता है। कठफोड़वा पक्षी कभी-कभी अपने चंचु से नागफनी में छेद बनाये होते हैं। क्षुद्रतम उलूक उसे ग्रहण करता है। नागफनी का रस चूकर जम जाने से भीतरी परत दृढ़ चादर-सी बन गई होती है। उसी में घुसकर क्षुद्रतम उलूक अपना घोंसला बनाता है। यह गौरैया के बराबर ही पक्षी है तथा
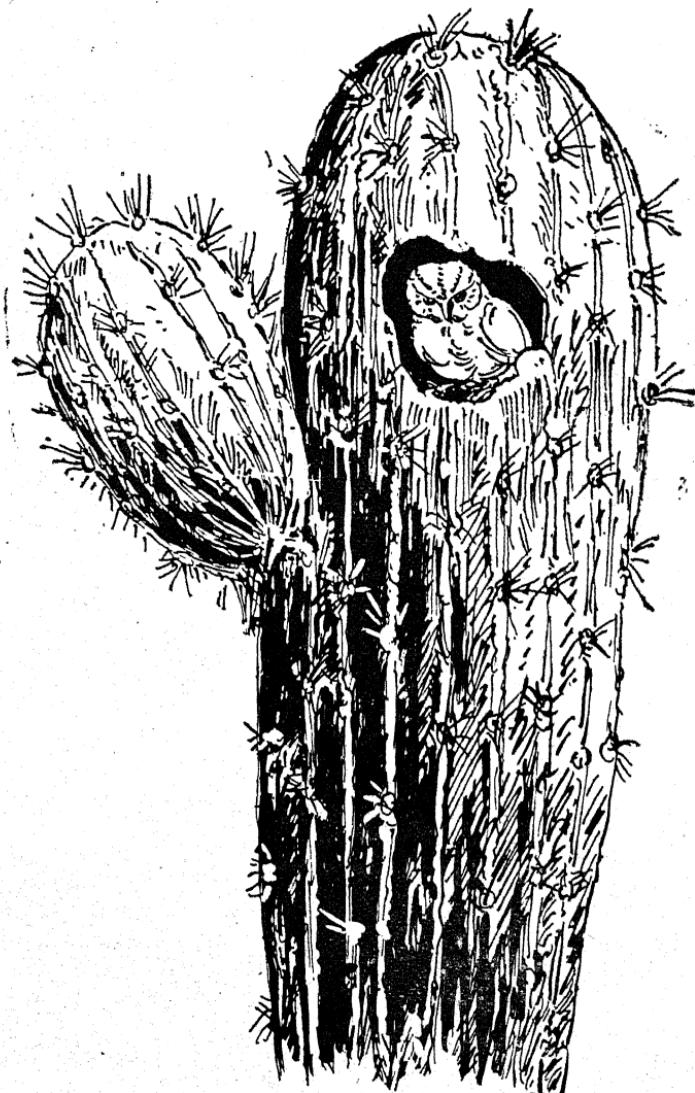
क्षुद्रतम उलूक

शब्द किए बिना ही उड़ सकता है अतएव निश्शब्द रात भर उड़ान कर शिकार किया करता है। कभी मनुष्य के हाथ पकड़ जाय तो मूर्छा का बहाना कर शिथिलांग पड़ जाता है। पकड़ ढीली होते ही उड़ भागता है।

सारिक (मैना)

शीतोष्ण कटिबन्ध के सभी भूभागों में सारिक पाया जाता है। यह समाजप्रिय पक्षी है और कई सौ की संख्या में झुण्ड बना कर रहता है। झुन्ड का नेता एक पक्षी ही होता है। इस पक्षी का जनन-कक्ष या नीड़ अनेक रूप के स्थानों में बना पाया जाता है। यह मामूली ढङ्ग का होता है। इसका नीड़ कभी भूमि पर ही बना होता है और कभी बिलस्थ शशकों के परित्यक्त विवर भी हो सकता है। इसका विवर जितना ही गहरा होता है, उसका द्वार उतना ही कम पतला रखने से यह सन्तुष्ट होता है। चौरिकाक पक्षी उल्लू के काष्ठ-विवर पर अधिकार करने का प्रयत्न करता है, परन्तु चौरिकाक से भी सङ्घर्ष कर सारिक अपना ही अधिकार उस पर जमा लेता है।

चाष (नील कंठ)

चाष का आकार द्रोणकाक (डोम कौआ) के बराबर होता है। इसका शब्द भी वैसा ही कर्कश होता है किन्तु पर अवश्य सुन्दर होते हैं। नीड़-निर्माण में यह बड़ा अव्यवस्थित है। कभी तो यह वृक्ष के कोटरों में नीड़ बनाता है, कभी नग्न भूमि पर ही नीड़ बनाता है कभी बलुहे कगारों में मीनरङ्क की भाँति विवर खोद लेता है।

घंटिका पक्षी (बेलबर्ड)

गाइना का घंटिका पक्षी (बेल बर्ड) अत्यन्त ही विचित्र पक्षी

होता है। इसमें कई प्रकार की विचित्रताएँ होती हैं। यह श्वेत रंग का पक्षी है जिसका आकार कबूतर के बराबर होता है किन्तु इसका स्वभाव अत्यन्त ही विचित्र होता है। यह दक्षिणी अफ्रिका के सघनतम भागों में रहता है। प्रायः आर्द्र तथा अत्यन्त निर्जन स्थानों में यह विशेष रूप में रहता पाया जाता है। वहाँ भूमि पर ही रहता है और कीटों का शिकार किया करता है। इसके मुख के ऊपर तीन इञ्च ऊँची एक सींग सी निकली होती है। यह सींग पूर्णतः काली होती है उस पर नीचे विरल रूप की कुछ श्वेत चोटियाँ निकली होती हैं। इसकी सींग उत्तेजना के समय ही खड़ी होती है अन्यथा वह मुख की ओर लटकी रहती है।

सन्तानोत्पादन काल में घंटिका पक्षी ऊँचे स्थानों को चला जाता है। विशेषतः पहाड़ी स्थान पसन्द करता है। वहाँ किसी दरार या दो चट्टानों के मध्य का स्थान ढूँढ़ता है। वहाँ वह एक गड्ढा लगभग बारह इञ्च गहरा खोदता है। उसमें भद्दे ढंग से घास बिछा देता है। वह नीड़ इतना गुप्त बना होता है कि बहुत संयोग होने पर ही वह दिखाई पड़ सकता है।

साचिग्रीव (राई नेक)

बहुत से पक्षी अपने श्रम से नीड़ न बना कर दूसरों के बनाए नीड़ ही उपयोग में लाने का प्रयत्न करते हैं। साचिग्रीव ऐसा ही पक्षी है। यह काष्ठकूट के परित्यक्त काष्ठ-विवर को प्राप्त करने का सुअवसर पा सकता है तो उसका उपयोग करता है किन्तु किसी भी प्रकार के अन्य वृक्षकोटर को वह नीड़ बनाने के लिए भी प्रस्तुत रहता है। ऐसे कोटर को वह अधिक पसन्द करता है जहाँ से कोई डाल टूट गई रहती है। उसके टूटने से संधि-स्थल का काठ गल-गल कर टूटता जाताहै। इसी कोटर में यह अपना नीड़

बनाता है। यह सड़ती हुई लकड़ी के टुकड़ों पर ही अंडों के देने के लिए उपयुक्त स्थान समझता है। इसे विवरवासी पक्षियों में निम्न श्रेणी का ही कहा जा सकता हैं जिसे अपना विवर स्वयं अपने प्रयत्न से सुन्दर बनाने का ध्यान नहीं होता। यह सुस्त पक्षी है, फिर भी अपने काष्ठ-विवर तथा शिशुओं की रक्षा करने से पीछे नहीं रहता। इसकी छोटी चोंच तो प्रहार करने के अयोग्य ही होती है, उससे किसी शत्रु को आहत करना असम्भव ही होता है। फिर भी वह आगन्तुक शत्रु को भयभीत कर भगाने के लिए गर्दन बढ़ाकर चोंच मारने का स्वाँग सा करता है। अपनी कलँगी खड़ी कर लेता है तथा मुख से सिसकारी मारने लगता है। उसकी गर्दन और सिर का रूप विवर के बाहर निकले होने और गर्दन लम्बी करने से इसका रूप अवश्य डरावना लगता है।

शिलीन्ध्री (नुथेच)

शिलीन्ध्री पक्षी अर्द्ध विवरवासी कहला सकता है। मुख नीचे कर वृक्ष के तने पर उल्टे ही चढ़ने की क्रिया के लिए ही यह प्रसिद्ध है। यह सदा किसी वृक्ष के सड़ने के कारण बने कोटर को चुनता है और उसे अपना नीड़ बनाता है। यह प्रायः ऐसे कोटर ही चुनता है जिसका मुख छोटा हो। परन्तु यदि उसका द्वार बड़ा हो तो मादा शिलीन्ध्री दीवालों में मिट्टी का लेप कर द्वार छोटा कर लेती है। मादा साचिग्रीव तो शत्रुओं को केवल अपने उग्र रूप दिखाने का स्वाँग कर ही भयभीय करने का प्रयत्न करती है परन्तु मादा शिलीन्ध्री दूसरा मार्ग ग्रहण करती है। ज्योंही कोई शत्रु निकट आता है, वह प्रचंड उग्रता के साथ उछल कर उस पर चोट कर देती है और अपने प्रबल चंचुओं से सचमुच मार करती है। साधारण शत्रु तो ऐसे आक्रमण के सामने अवश्य ही भाग जाता

है। शिलीन्ध्री के चंचु की चोट साधारण नहीं होती। उसे तो कठोर

शिलीन्ध्री

छिल्के के फ़ल को भी चोंच की मार से तोड़ सकना सम्भव होता है। फिर नर्म वस्तु पर उसके प्रभाव की तो बात ही दूसरी है।

हुदहुद (हूपू)

हुदहुद पक्षी अर्द्ध विवरवासी है। यह किसी गलते हुए वृक्ष में अपना काष्ठ-विवर बनाता है। उसे वह प्राय: अनजाने ही बना लेता है। इसका मुख्य आहार कीट होते हैं जिन्हें इल्ली से लेकर प्रत्येक विकसित अवस्था तक के रूपों में भक्षण करता है। वे अधि-

कांश कीट इसकी लम्बी चोंच द्वारा गले हुए काठ की खुदाई करने से प्राप्त होते हैं। वे कीट गले काठों के अन्दर सुरंग बना कर रहते हैं। अनेक कीटों की इल्लियाँ ऐसे स्थानों में रहती हैं। ये मोटे तथा पुष्ट शरीर की होती हैं अतएव हुदहुद को उनसे यथेष्ट आहार प्राप्त होता है। इन इल्लियों को काठ के भीतरी भाग से निकालते रहने के कारण हुदहुद केवल उस काष्ठ-विवर को बड़ा ही नहीं करता, बल्कि उसके पेंदे में नर्म काष्ठीय गुद्दी के छोटे खण्ड भी फेंकता जाता है। उसी में घास, पर, या इसी प्रकार के अन्य पदार्थों का अस्तर देकर अपना नीड़ बनाता है।

हुदहुद के नीड़ से बड़ी तीव्र बदबू आती है। इस पक्षी की पूँछ में गंधग्रंथि होती है। उससे तीव्र गंधोत्पादक रस स्रवित होता है। वह इसके लिए किसी प्रकार ऐसे ही विचित्र रूप में उपयोगी होगा जैसे कस्तूरी मृग की गन्धग्रन्थि से उत्पन्न गंधैला द्रव उसके किसी काम आता होगा। कम से कम इतना तो होता ही है कि बदबू के मारे कोई हुदहुद के नीड़ के निकट नहीं जाता।

दीर्घरञ्जित चंचु (टौकन)

टौकन पक्षी की कई जातियाँ होती हैं जो चोंच के रंग की विभिन्नता से पहचानी जा सकती हैं। सभी टौकन पक्षियों की चोंच सुन्दर चटकीले रंगों से रञ्जित होती हैं। एक जाति की चोंच नारंगी और काले रंग की होती है। दूसरी जाति की चोंच रक्त तथा पीत वर्ण की होती है। एक अन्य जाति में हरा तथा लाल रंग होता है। इन सब जातियों में चंचु उसके शरीर के आकार के अनुपात में बहुत बड़ा और बलिष्ठ होता है किन्तु उसका भार बहुत कम होता है। यह श्रृङ्गीय पदार्थ के कवच सा होता है। कहीं-कहीं तो उसकी मुटाई लिखने के कागज की मुटाई के बराबर ही होती

है। अन्तर्भाग की कुछ झिल्लियों द्वारा चंचु को रंग प्राप्त होता है जो अर्द्ध पारदर्शी चंचुतल से प्रतिबिंबित होता रहता है।
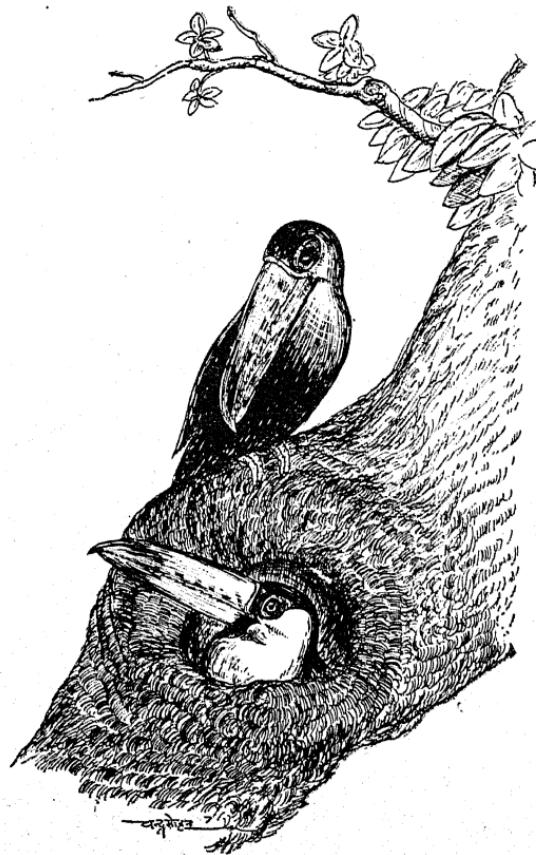
टौकन का कोटर

यह बात बहुत दिनों से ज्ञात थी कि दीर्घरञ्जित चंचु (टौकन) पक्षी खोखले पेड़ों में नीड़ बनाता है तथा उन कोटरों को ही पसन्द

करता है जिसमें किसी छोटे छिद्र द्वारा ही प्रवेश हो सके। यह सोचा जाता था कि शिशु टौकन के अनेक शत्रु बन्दर, बड़े पक्षी आदि होते हैं। मादा टौकन उन शत्रुओं से शिशुओं की रक्षा के लिए काष्ठ-विवर के छोटे द्वार से अपना विशालकाय चंचु ही बाहर निकाल लेती है जिससे शत्रु को यह प्रतिभासित हो कि अन्दर अवश्य ही उस चंचु के अनुपात का बड़ा जन्तु है। इससे वह भयभीत होकर भाग जाय।

कुछ विद्वानों का कथन है कि टौकन अपने विशाल चंचु द्वारा ही अपना काष्ठ-विवर निर्मित करता है किन्तु यह संदिग्धात्मक बात ही है। वह स्वयं पूर्ण काष्ठ-विवर न खोदकर किसी कोटर को ही अपनी आवश्यकतानुसार सुधार लिया करता होगा। यह वृक्षजीवी पक्षी ही है। अतएव जंगल से दूर नहीं जाता। यह दक्षिणी अमेरिका का पक्षी है। यह ऊँचे वृक्षों की गगनचुम्बी चोटी पर ही बिहार करता रहता है। इसकी भारी चोंच उड़ने में असुविधा ही उत्पन्न करती है। उसके भारी बोझ के कारण इसका मुख उड़ान के समय नीचे ही लटका रहता है।

दुर्बल चटक या बतासी (स्विफ़्ट)

दुर्बल चटक भी अर्द्ध विवरवासी पक्षी है। यह सदा गड्ढों में अपना सुन्दर नीड़ बनाता है। कभी-कभी यह जनन-कक्ष की आवश्यकता के लिए स्वयं भी सुरंग खोद लेते हैं। जब यह बस्तियों से दूर अपना आवास बनाते हैं तो यह चट्टान की दरारों, वृक्ष के कोटरों या ऐसे अन्य स्थानों में ही नीड़ बनाता है किन्तु बस्तियों के निकट रहने पर छप्परों में स्थान बना लेता है। इस पक्षी के पैर अत्यन्त छोटे किन्तु बलिष्ठ होते हैं। उनमें सभी पादांगुलियों में दृढ़ मुड़े चङ्गुल होते हैं जो आगे की ओर निकले होते हैं। अतएव यह कोई डाली पकड़ सकने में असमर्थ होता है।

पैरों की विचित्र रचना के कारण दुर्बल चटक अपने विवर में बड़ी तीव्रता से चल सकता है। वायु में भी यह तीव्रता से प्रातः सायं चक्कर मारता रहता है। विवर में प्रवेश करते समय यह पंख बन्द कर आँधी की तरह पहुँचता है। इसका विवर साधारण रचना होती है। सूखे घास पात, ऊन के फाहे आदि का अस्तर देता है। विवर के द्वार से डेढ़ या दो फुट की दूरी पर उसके नोड़ की व्यवस्था दिखलाई पड़ सकती है। चूहों के बनाए विवर अधिकांशतः इन पक्षियों के उपयोग में आते हैं। किन्तु यदि कोई बना-बनाया विवर न मिल सके तो यह स्वयं भी विवर खोद सकने में सर्वथा समर्थ होता है।

विवर-निर्मायक सरीसृप

बिल बनाकर रहने वाले जन्तुओं में सरीसृपों का स्थान नहीं के बराबर है। उनमें से बहुत से जन्तु शीत देशों में कुछ समय तक भूमि में प्रविष्ट होकर दीर्घ निद्रा में पड़ते हैं और ऋतु की भीषणता एक प्रकार से मूर्छित या निष्क्रिय होकर ही बिताते हैं अतएव उसे न तो जीवन-क्रिया ही कही जा सकती है और न इन सरीसृपों को बिलस्थ जन्तु की श्रेणी में ही गिना जाता है। यथार्थतः बिलस्थ जन्तु तो वे ही कहे जा सकते हैं जो भूमि या काठ के अन्दर स्थान बनाकर उसमें अपना जीवन-व्यापार चला सकते हैं। केवल अपवाद स्वरूप कुछ सरीसृप ही इस दृष्टि से बिलस्थ कहे जा सकते हैं। साँप भी शीतकाल में बिल ढूँढ़ते हैं किन्तु वे किसी अन्य जन्तु के बनाए विवर से ही सन्तोष करते हैं। केवल पीत सर्प की जाति ही स्वयं अपना विवर बनाने की कुशलता दिखलाती है। इसलिए इस जाति के सर्प को हम बिलस्थ कह सकते हैं।

पीत सर्प जमैका में पाया जाता है। यह मनुष्य के लिए पूर्णतः निरापद होता है। इसमें विषदंतों का अभाव होता है। इसके शरीर का आकार भी इतना बड़ा नहीं होता कि किसी अन्य प्रकार से क्षति पहुँचावे। इसकी औसत लम्बाई आठ फुट होती है। चूहों का संहार करने के कारण यह मनुष्य का हितेच्छु जन्तु ही है। चूहों की खोज में पीत सर्प घरों में भी घुस आता है किन्तु जिस प्रकार बीजेल (काष्ठनकुल) का मुख्य आहार चुहिया होने पर भी

मुर्गियाँ भी उसके द्वारा वध्य होती हैं, उसी प्रकार पीत सर्प भी चूहों का अधिकांशतः भक्षक होने पर भी पालतू मुर्गियों के अण्डे बच्चे खा जाता है। एक पीत सर्प के पेट में तो सात अखण्ड अण्डे पाए गए जिनमें कोई निगलने के बाद भी टूटा न था।

पीत सर्प के बिल का पता लगाकर देखा गया कि यह उसकी अपनी रचना होती है। उसमें उसके अण्डे भी पाए गए जिसमें एक अण्डे में साँप का बच्चा पाया गया। एक टीले के किनारे बिल बना था। बिल के बीच में एक बड़ा कक्ष था जिसमें केले के अधसूखे पत्ते बिछे थे। पीले साँप द्वारा विवर खोदने का कृत्य एक आश्चर्य की बात ज्ञात होती है, परन्तु खोदने का कार्य किसी प्रकार कर लेने पर भी वह मिट्टी किस प्रकार बाहर फेंक सकता होगा, यह और भी कल्पनातीत बात समझ पड़ती है। किन्तु पीत सर्प का जो विवर देखा गया, उसमें स्पष्टतः बाहर की ओर मिट्टी फेंकी देखी गई थी।

वैज्ञानिकों का विचार है कि साँप अपने थूथन से मिट्टी ढीली करता है। फिर अपने शरीर के उदर के फंकों को सिकोड़ और फैला कर उस शिथिल मिट्टी को धीरे-धीरे बाहर खिसकाता है।

विवरवासी कर्कांगी

केकड़े के समान शरीर के ऊपर कड़ी खोल के रक्षा साधन वाले जन्तुओं को केकड़ानुमा या कर्कांगी जन्तु कहते हैं। इन जन्तुओं में बहुत सी जातियों में विवरवासी वृत्ति पाई जाती है। ये अल्पकालीन विवर बनाते हैं जो पंक या आर्द्र मिट्टी में मामूली गड्ढा होता है। वर्षा या बाढ़ के आगमन पर वे स्थान जलप्लावित होने के कारण विवर नाम के उन अल्पकालीन आवासों का लोप कर देते हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें कर्कांगी जन्तुओं का घर कहना उपहास की सी बात है किन्तु कुछ कर्कांगी ऐसे अवश्य पाए जाते हैं जो गृह की रचना करते कहे जा सकते हैं। वे भूमि में नियमित रूप की खुदाई कर विवर बना लेते हैं और उसी में निर्द्वन्द निवास करते हैं। उन्हें अपने इस निवास से बाहर आहार की खोज में ही आने का अवसर होता है। शत्रु से मुठभेड़ होने की आशंका में ये भागकर अपने इन विवरों का ही शरण लेते हैं।

भूकर्क या भूवासी केकड़े विवर बनाने के लिए प्रसिद्ध हैं। ये सारे संसार के देशों में पाए जाते हैं। उन सब के स्वभाव एक से होते हैं। ये भूमि में बिल बनाते हैं। बड़ी तीव्रता से दौड़ते हैं, काटते भी बड़े जोर से हैं तथा यथेष्ट बड़ी संख्या में एकत्र रहते हैं। भूवासी केकड़ों में जमैका के विकट भूवासी केकड़े विशेष प्रसिद्ध हैं।

लड़ाकू केकड़ा

लड़ाकू केकड़ा समुद्र तट के निकट जलसिंचित स्थलों में

अपना आवास बनाता है। वह गहरा विवर बनाता है किन्तु प्रायः ऊपरी तल पर ही रहता है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसका एक चङ्गुल बहुत बड़े आकार का होता है। दूसरा चङ्गुल बहुत ही छोटा होता है। वह निरुपयोगी सा ही होता है। केवल चलते समय ही उसे कुछ अवलंब प्रदान करता है। दायाँ या बायाँ कोई एक चङ्गुल दीर्घाकार हो सकता है किन्तु दूसरा चङ्गुल अवश्य छोटा होता है। यह बड़ा ही झगड़ालू होता है। लड़ने के लिए बराबर ही सन्नद्ध रहता है। दौड़ने के समय अपने भारी चङ्गुल को यह ऊपर उठाए चलता है। उसे ऊँचाकर वह अन्य जन्तुओं को ललकारता सा है। एक अङ्ग का ही इतना अधिक वृहद् रूप धारण करना उसके रूप को बड़ा ही उपहासास्पद बना देता है। जब लड़ाई करनी होती है तो यह अपना चङ्गुल शरीर के ऊपर इस प्रकार ही रखता है जैसे कोई मुक्केबाज या पहलवान अखाड़े में उतरने पर अपने मुक्के को वक्षस्थल के आगे रखता है। यह बिलों का रहने वाला जन्तु है। जोड़े रूप में रहता है किन्तु मादा बिल के अन्दर ही रहती है और नर बिल के द्वार पर प्रहरी रहता है। उसका वृहद् चङ्गुल बिल के मुख को ढके रहता है।

डाकू केकड़ा (राबर क्रैब)

डाकू केकड़ा नारियल तोड़कर उसकी गरी खाने के लिए प्रसिद्ध है। यह भारतीय महासागर तटीय भूभागों में उन स्थानों में पाया जाता है जहाँ नारियल के बगान हैं। इसके द्वारा नारियल तोड़ने की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। वैज्ञानिकों का भी कथन प्राप्त होता है कि वह नारियल की जटा को चङ्गुलों से नोच-नोचकर पृथक कर लेता है तथा भीतरी कड़ी खोल या खोपड़ी में सिरे पर छिद्र से दुर्बल स्थान में चङ्गुल डाल-डालकर धीरे-धीरे गरी तक पहुँच कर लेता है।

डाकू केकड़ा सबसे बड़े आकार का केकड़ा होता है। उसकी लम्बाई तीन फुट तक होती है। इसी अनुपात में उसके शरीर की भी मुटाई होती है। यह समुद्र तट के निकटवर्ती स्थलों में रहता है। यह भूमि में अपने लिए बिल खोद लेता है। इसका बिल प्रायः किसी वृक्ष की जड़ में होता है था समुद्र तल से कुछ निचाई पर ही वह बना होता है। वहाँ यह दिन को छिपा रहता है। केवल रात को ही आहार की खोज में बाहर निकलता है।

डाकू केकड़ा के उदर पर कठोर रक्षक पट्टी मढ़ी होती है। यह आकार में योगी केकड़े सा होता है, परन्तु किसी घोंघे या कवचीय (कोशस्थ) प्राणी के कोश का आश्रय नहीं प्राप्त करता। यह पानी से दूर यथेष्ट समय तक रह सकता है। इसके गलफड़े विशेष रूप की शारीरिक जलथैलियों से आर्द्र बनते रहते हैं। चौबीस घन्टे में एक बार ही इसे पानी पाने की आवश्यकता होती है।

डाकू केकड़ा तीव्रगामी होता है। चलते समय दो केन्द्रीय परों के ऊपर इसका शरीर भूमि से एक फुट ऊँचे उठे रहने से इसका विचित्र आकार दिखाई पड़ता है। शत्रु से मुठभेड़ होने पर यह अपना चङ्गुल रूपी शस्त्र खड़खड़ाता है और मुख सदा शत्रु की ओर ही रखता है।

डाकू केकड़ा अपना निवास नारियल वृक्ष की जड़ों के नीचे भूमि के अन्दर बनाता है। उस बिल में खाद्य संचित करता है। नारियल के जटाहीन गोले ही उसके खाद्य भण्डार बनते हैं। जब नारियल के फलने का समय जाता रहता है तो यह अपने रक्षित भण्डार के नारियलों को खाकर जीवन व्यतीत करता है।

दौड़ाक केकड़ा

सीलोन में दौड़ाक केकड़ा होता है। उसकी इतनी भारी संख्या

हो जाती है कि वह एक आपदा का ही रूप बन जाता है। बलुही सड़कों के नीचे बिलों का जाल बिछाकर उन स्थानों को बिल्कुल अरक्षित कर देता है। इसके बिलों को बन्द करते रहने के लिए श्रमिक नियुक्त रक्खे जाते हैं जिससे सड़क चलने योग्य रह सके। इसका बिल खोदने का ढंग विचित्र है। यह सूखी भूमि में बिल खोदता है। गहरे गड्ढे बनाकर यह चङ्गुलों से मिट्टी भर कर लाता है और उसे हवा में ऊपर जोर से उछालकर उड़ा देता है। वह बलुही मिट्टी कणों या रेतों रूप में एक वृत्त के आकार में बिल के चारों ओर फैल जाती है।

कासनी भूकेकड़ा

कासनी रङ्ग का होने से इसका नाम यह रखा गया है। परन्तु यथार्थ में इसके कितने ही रङ्ग हो सकते हैं। कभी उसका रंग काला होता है जिससे यह काला केकड़ा कहा जा सकता है। कभी नीला रंग होता है और कभी धब्बों युक्त या चित्रित होता है। परन्तु तीनों ही दशाओं में कासनी रंग की पुट अवश्य रहती है। इसलिए कासनी केकड़ा उपयुक्त नाम है। यह जमैका में पाया जाता है। यह जहाँ कहीं भी अपने बिल बनाता है, सारी भूमि उससे पटी रहती है। इन बिलों के उपनिवेश में ही दिन भर बिताकर रात को आहार की खोज में बाहर निकलता है।

कासनी केकड़े की विचित्र रक्षा विधि होती है। शत्रु से मुठ-भेड़ होने पर यह लड़ने के लिए प्रस्तुत रहता है। यह अपने एक बड़े चंगुल से शत्रु पकड़ लिया करता है। फिर इस चंगुल को शरीर के साथ संधि-स्थल पर वेग से हिलाता है। शरीर से पृथक हो जाने पर भी चंगुल की पेशियों में तनाव बना ही रहता है अतएव शत्रु विशेष कष्ट अनुभव करता है मानो केकड़ा वहाँ जीवित ही पड़ा

हो। इस क्षणिक द्विविधा काल में केकड़े को भगाकर सुरक्षित स्थान में पहुँच जाने का अवसर होता है। चंगुल टूटकर पृथक होने से केकड़ों की कोई हानि नहीं हो सकती। छिपकली की दुम की तरह वह दुबारा शीघ्र ही निकल आता है। यह समुद्र से दो तीन मील दूर तक रहता है, अंडे समुद्र में ही जा गिराता है किन्तु वर्ष में दो बार खोल बदलता है। उस समय बिल में पड़ा रहता है। ऐसे समय के लिए घास-पात बिल में संचित रखता है। द्वार भी बन्द रखता है। नई खोल दृढ़तर निकलती है।

काष्ठछेदक झींगा (तिर्यक-विवर झींगा)

केकड़े की जाति का झींगा होता है। उसमें काठ को खोदकर बिल बनाने वाला झींगा विचित्र जन्तु है। यह बहुत छोटे आकार का होता है किन्तु भयानक नाशक होता है। समुद्र में गड़े हुए लट्ठों की पंक्ति को भारी हानि पहुँचाता है। इसके शरीर में रेती समान काठ को काटने वाला विशेष अंग होता है। उसी से काठों में छेद कर लेता है। काठ के उस विवर में ही यह रहता है। इसका काठ के अन्दर बना बिल सदा तिरछा होता है। उसमें खाद्य वस्तु संचित कर रखता है। अनेक काष्ठछेदक झींगे किसी एक लट्ठे में अपना बिल बनाने में संलग्न हों तो वह छिन्न-भिन्न हो जाता है।

काष्ठछेदक झींगे से भी अधिक प्रबल छेदन शक्ति का दूसरा जन्तु ग्रिबिल (ऋजु विवर झींगा) नामक होता है किन्तु इसकी संहारक शक्ति कुछ कम होने का यह कारण है कि यह काठ में सीधा बिल ही खोदता है। यह दो इञ्च गहराई तक काठ खोद ले जाता है। कहीं कीला या गाँठ मिल जाय तभी इसका बिल कुछ टेढ़ा हो जाता है अन्यथा वह सदा सीधा ही बना होता है। इस जन्तु का डील-डौल तो चावल के एक दाने से बड़ा नहीं होता किंतु

बहुसंख्यक रूप में काष्ठछेदन कार्य करने से लट्ठे का सत्यानाश हो जाता है। कभी-कभी टेढ़ा बिल बनाने वाले झींगे तथा सीधा बिल बनाने वाले ग्रिबिल को एक ही लट्ठे में छेद करते पाया जाता है। उस दशा में तो लट्ठे का सर्वसंहार ही हो जाता है।

बिलनिर्मायक बिच्छू

बिच्छू को डंकधारी मकड़ा सा कहा जा सकता है। बिच्छू संसार के उष्णतर भागों में पाया जाता है। उष्ण कटिबन्ध में तो पटा पड़ा रहता है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं, परन्तु सब का आकार-प्रकार, स्वभाव आदि प्रायः समान ही होता है। बिच्छुओं को प्रकाश सह्य नहीं है। अतएव सूर्य की किरणों से बचने के लिए दिन को किसी वस्तु के नीचे दबे पड़े रहते हैं।

बिच्छू का बिल उसके अर्द्ध चन्द्राकार (दूज के चाँद) द्वार के कारण तुरन्त पहचाना जा सकता है। उसका मुख इस जन्तु के आकार के ठीक उपयुक्त होता है। किसी स्टूल को उठाने के लिए जड़े पटरे में हाथ लगाकर उठाने के लिए उसका जैसा छिद्र होता है उसी प्रकार बिल का द्वार होता है। जहाँ पर मिट्टी उसके बिल के उपयुक्त होती है, बिच्छू उसका उपयोग करता है। अतएव बहुसंख्यक बिच्छू एक स्थल पर विवर बनाकर रहते हैं। एक ही स्थान या भींटे में रहने वाले चालीस-पचास बिच्छुओं को एक समय मारा जा सका है।

बिल के मुख का आकार घोड़े की नाल या दूज के चाँद की तरह देखकर निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि वह बिच्छू का ही बिल है। उसमें बिच्छू की उपस्थिति ज्ञात करने के लिए एक बाल्टी पानी बिल में गिरा दिया जाता है। जल से बिच्छू घबड़ाता है। जब वह अपने बिल में रहने पर ऊपर से बदन पर पानी

गिरना देखता है, वह बिल से बाहर चल पड़ता है। उसका अग्र-भुज या पंजा बिल से बाहर शत्रु को ललकारने के लिए निकलता है। इतने में फावड़े की एक चोटकर नीचे से बिल का भाग खोद लिया जाता है जिससे वह अपने बिल में फिर भाग नहीं सकता। इस तरह वह मारा जाता है।

बिल के चारों ओर अँगारे रखने से भी बिच्छू मारा जाता है। ज्योंही बाहर आग सुलगती है, बिच्छू बाहर आकर भागने का उद्योग करता है। अँगारे बहुत अधिक दहकते न होने पर भी बिच्छू घबड़ाकर अपने डंक को पीठ पर मोड़ लेता है शरीर के दो फाँकों के मध्य प्रविष्ट कर मृत हो जाता है। ऐसी स्थिति में स्वयं ही डंक मार कर आत्मघात कर लेना बिच्छू के जीवन का निश्चित विधान ज्ञात होता है।

बिलस्थ मकड़े

अनेक मकड़े विवरवासी होते हैं। ये बलुहे तटों पर सैकड़ों की संख्या में विवर बनाये मिल सकते हैं। जहाँ ये विवर बनाते हैं, वह भूमि यदि बहुत ही भुरभुरी हो तो बिल की दीवाल सँभल सकना कठिन हो सकता है। अतएव दीवाल को मकड़े अपने जाले से दृढ़ बना देते हैं। दीवालों पर मढ़ा जाला अधिक टिकाऊ, दृढ़, लचकीला तथा छननशील होता है किन्तु एक भी मृत्तिका कण बिल में नहीं गिर सकता। प्रत्येक बिल के मुख पर एक जाला तना होता है। उसके मध्य में एक छेद होता है। वहाँ से पृथक्-पृथक् जाले भी भीतर दूर तक बिल में गए होते हैं।

बिल के अन्तिम भाग में अपनी रेशमी तागे या जाले के इस गृह में मकड़ा छिपा बैठा पड़ा रहता है। उसका संवेदनशील पैर जाले पर लगा रहता है अतएव छोटे से छोटे कीट का ऊपरी भाग में आगमन उसे ज्ञात हो जाता है। मकड़े की विभिन्न जातियों द्वारा जितने विभिन्न प्रकार के कीट पकड़े जाते हैं उनका अवलोकन मनोरंजक होता है। उपवनों के मकड़े तो विविध प्रकार का आहार करते हैं, जल-मकड़ा भी अनेक प्रकार का आहार करता है, परन्तु विवरवासी मकड़ा अपनी आहार-विभिन्नता सीमित ही रखता है।

एराचनिडा या क्षुद्रकाय बिलस्थ मकड़ा आर्द्र स्थलों में रहता है। कगारों में बिल बनाता है। बिल पहले आड़े रूप का होता है। उसके बाद नीचे की ओर झुका होता है। उसमें रेशमी जाले

का सुन्दर श्वेत अस्तर बना होता है। इस जाले की नली का व्यास आधा इञ्च होता है। नली का ऊपरी भाग अपेक्षाकृत तथा नीचे के भाग की अपेक्षा बड़ा होता है तथा बिल के मुख से कुछ बाहर निकला होता है जिससे एक ढक्कन-सा बना होता है। उससे विवर का मुख सुरक्षित रहता है।

पक्षीभक्षक मकड़े के कारनामों के आँखों देखे वर्णन प्राप्त होते हैं। इसका आकार गौरैया के बराबर होता है। सात-आठ इञ्च शरीर की लम्बाई होती होगी। यह आमेजन नदी के किनारे वृक्षों की जड़ में विवर बनाये मिल सकता है। यह मकड़ा रोमधारी होता है। धड़ और सिर की लम्बाई लगभग दो इञ्च होती होगी किन्तु पैर सात इञ्च लम्बे होते हैं। वृक्ष के नीचे गहरे छिद्र के ऊपर यह जाल फैला देता है। मधुपक्षी (हमिंगबर्ड) या अन्य छोटे पक्षी इसके जाल में फँसकर मर जाते हैं। यह उनको बन्दी रूप में पाकर अपना आहार बनाता है। उनके जाल में एक बार फँस जाने पर यह अपने विषैले थूक को पक्षी के शरीर पर गिराता और मूर्च्छित कर शीघ्र मार डालता है।

एक जाति का पक्षीभक्षक मकड़ा अपने शरीर पर पीली पट्टियाँ प्रदर्शित करता है। यह गहरे बिल बनाने में कुशल होता है। यह दो फुट तक गहरा बिल खोद लेता है। वह यथेष्ट चौड़ा भी होता है तथा किनारों को गिरने से रोकने के लिए उसकी दीवालों पर जाला मढ़ लेता है। सन्ध्या समय यह मकड़ा अपने बिल के मुख पर बैठा दिखाई पड़ सकता है। वहाँ से वह चारों ओर शनिदृष्टि रखता है। जहाँ कोई आगंतुक आता जान पड़ता है, यह अपना मुख बिल में दुबका लेता है। कुछ अधिक समय तक वह ऊपर आने का साहस नहीं करता। इसकी कुछ जातियाँ पत्थरों के नीचे या छप्परों में भी रहती हैं। इन मकड़ों के शरीर पर जो रोम होता

है, वह स्पर्श करने पर त्वचा में प्रविष्ट कर मनुष्य को बहुत कष्ट दे सकता है।

एक दीर्घ आकार की जाति का मकड़ा प्रायः सभी भूभागों में पाया जाता है। यह प्रायः बिलस्थ वृत्ति रखता है। अपने बिल की दीवाल पर जाला मढ़ता है जिससे मिट्टी नीचे न गिरे। इनमें कुछ तो बाहर से शिकार कर कीट पकड़ते हैं किन्तु कुछ अपने बिल के द्वार पर बैठते हैं। कोई कीट निकट आते ही उसे वह जाल में फँसा लेता है। बिल के अन्दर ही अंडे दिये जाते हैं। अंडे से उत्पन्न होने के बाद शिशु ज्यों ही चलने योग्य होते हैं, माता की पीठ पर चढ़कर बैठ जाते हैं। वे बड़े झुण्ड रूप में पीठ से चिपके रहते हैं।

साइबेरिया में एक मकड़े की जाति होती है। वह भूमि के अन्दर बिल बनाकर रहती है। यह डरावना मकड़ा है। यदि इसके बिल में चाकू का फलक प्रविष्ट किया जाय तो यह उसको दौड़कर काटना चाहता है किन्तु यह यथार्थ में विषैला नहीं होता। भेड़ें इसे घास के साथ निरापद रूप में खा जाती हैं।

कपाटपाशीय

कपाटपाशीय मकड़ा (ट्रैपडोर स्पाइडर) सभी विलस्थ मकड़ों से विलक्षण होता है। यह जमैका में पाया जाता है। इसके समान बिल बनाने का कौशल अन्य कोई जन्तु नहीं दिखलाता। इसके बिल दर्शनीय होते हैं। यदि बिल के अन्दर दीवालों में मढ़ी जाले की नली को पृथक कर देखा जाय तो वह दोहरी दीवाल की मिलती है। उसका बाहरी अंश मोटा होता है। वह लाल भूरे रङ्ग के धब्बों युक्त होता है तथा अनेक टुकड़ों रूप में होता है जो एक दूसरे के ऊपर रक्खे से होते हैं। ऊपरी परत इतनी मोटी, पुष्ट तथा खंडित होती है कि मकड़ी का जाला न ज्ञात होकर किसी वृक्ष की

छाल जान पड़ती है। छूने पर भी उसका यथार्थ रूप प्रतीत नहीं हो सकता। बर्रे के घोंसले का बाह्य रूप कुछ-कुछ इसके समान होता है। इस ऊपरी तह के नीचे दूसरी पतली तह होती है जो बिल्कुल दूसरे रूप की होती है। यह देखने में सर्वत्र चिकनी होती है तथा छूने पर रेशम की भाँति कोमल होती है। भीतरी तह ऊपरी तह से बिल्कुल पृथक की जा सकती है।

जाले की नली का भीतरी तल बाहरी तथा भीतरी तह से विभिन्न रूप का रचित होता है। वह प्रायः श्वेत और इतना चिकना होता है मानो कोई मोटा और बिना निश्चित नाप का हाथ का बना कागज ही हो। यह विचित्र रूप का कठोर भी होता है। यदि उसे कोई पहले-पहल देखे तो पहचान सकना बड़ा कठिन हो। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से ही उसका यथार्थ रूप ज्ञात हो पाता है। सूक्ष्मदर्शक से देखने पर वह तल बड़ा विषम मखमली दिखाई पड़ता है जिस पर छोटे छोटे उभाड़ भरे होते हैं तथा वह बिल्कुल अव्यवस्थित रूप से तागों के जोड़-तोड़ से बना होता है। वे तागे साधारण जाले के सूत्र से बड़े मोटे होते हैं और ऐसे कड़े ज्ञात होते हैं मानों उन पर माड़ी या गोंद चढ़ी हो।

इस मकड़े के बिल के ऊपर कपाटपाश या धोखे का किवाड़ होता है। इस व्यवस्था के ही कारण मकड़े का काकपाटपाशीय (ट्रैप-डोर) रखा गया है। जाले की नली के तन्तु से ही यह भी बना होता है। इसका आकार गोल होता है, जिससे बिल के द्वार पर बिल्कुल ठीक बैठ सके।

यह कपाटपाश एक यथेष्ट बड़े कब्जे से जाल की नली से बँधा होता है। अतएव जब कपाटपाश गिरता है तो इधर-उधर नहीं जाता। बल्कि ठीक जगह पर ही आकर बैठता है। यह द्वार की रक्षा करता है। कपाटपाश का निचला तल श्वेत मखमली होता

है और जाले की नली के भीतरी तल से ही समानता रखता है किन्तु इसका ऊपरी तल मिट्टी से ढका होता है। इसके लिए मिट्टी विवर की खुदाई से ही प्राप्त होती है। कपाटपाश का ऊपरी तल भूतल के रङ्ग-रूप का ही होता है अतएव विवर के मुख पर उसके बन्द होने पर विवर होने का तनिक भी कोई चिह्न नहीं प्रकट होता।

कपाटपाशीय मकड़ा अपनी अन्तर्प्रेरणा से विवर के लिए कोई ढालू भूमि ही चुनता है और कपाटपाश के कब्जे को सबसे ऊपर रखता है जिससे मकड़े के विवर में प्रवेश कर जाने पर कपाटपाश स्वयं बन्द हो जाता है और विवर का चिह्न लुप्त कर देता है। जिन भूभागों में कपाटपाशीय मकड़ा रहता है वहाँ पर कोई नया आगंतुक व्यक्ति कोई विवर तथा बड़ा कपाट और विवर के मुख से झाँकता हुआ मकड़ा देखकर घोर आश्चर्य ही कर सकता है। तनिक भी खटका देखकर कपाटपाशीय मकड़ा भीतर घुस जाता है और कपाटपाश बन्द हो जाता है। भूतल पर तनिक भी दरार या विषमता विवर का पता नहीं दे सकती।

कपाटपाशीय मकड़ा रात्रिचारी होता है। रात को शिकार करता है। अनेक प्रकार के कीट इसका आहार बनते हैं। इसके विवर के पेंदे में नाना प्रकार के कीटों के शेष अंश पड़े मिल सकते हैं। बड़े भुनगे भी इसके आहार बन पाते हैं। यदि इसके बिल के अन्दर विद्यमान रहने पर इसके कपाटपाश को धीरे से उठाने का प्रयत्न किया जाय तो यह विवर के निम्नभाग से तुरन्त ही कपाट तक दौड़ आता है तथा ढकने (कपाटपाश की निचली तह) के जाले में अपना पैर फँसा लेता है तथा ढकने को भीतर खींचने का पूर्ण प्रयत्न करता है। बल लगाने के लिए यह पिछले पैरों को कपाटपाश के निम्नतल में तथा अगले पैरों को बिल के अन्दर जाले की नली में लगा लिए होता है।

कपाटपाशीय मकड़ा अपने विवर-दुर्ग की इतनी दृढ़ता से रक्षा करता है कि इसको ताड़ना दिये बिना विवर से दूर करना असम्भव होता है। फावड़े से खोदकर इसका सारा विवर उखाड़ कर भले ही उठा लिया जाय किन्तु उस समय भी यह विवर के अन्दर ही पड़ा रहता है। किन्तु इसमें जो कुछ भी पराक्रम और साहस होता है, वह विवर-दुर्ग के साथ ही होता है। एक बार उससे बाहर निकाल दिये जाने पर यह निष्क्रिय-सा ही हो जाता है। किसी एक स्थान पर यह मुर्दा-सा ही पड़ा रहता है। यदि कुछ गति भी करता है तो बिल्कुल निरुद्देश्य।

बिल-निर्माता कीट

कीट-जगत का अध्ययन करने पर ज्ञात हो सकता है कि प्राय: सभी कीट अपने जीवन के आंशिक या पूर्ण भाग में पृथ्वी या काठ के अन्दर विवरों में व्यतीत करते हैं। परन्तु बहुत से ऐसे भी हैं जो विवर में इल्ली रूप में जन्म धारण कर तथा पोषित होकर शेष सारा जीवन आकाश में ही व्यतीत करते हैं। उनके उड़ाकू जीवन की सुन्दरता देख कर हमें यह स्वप्न में भी अनुमान नहीं हो सकता कि मिट्टी के अन्दर बिल में इनका आदि काल व्यतीत हुआ होगा। इनके जीवन में कितना विरोधी भाव है। यदि इनको गगनचारी रूप में हो जाने के पश्चात् पुन: पानी के अन्दर या मिट्टी के विवर में पहुँचाया जाय तो वह वातावरण उनका जन्मदाता होकर भी उनका तुरन्त प्राणान्त कर सकता है। यही बात उनके आदि जीवन के सम्बन्ध में भी है। इल्ली अवस्था में रहने पर यदि उन्हें वायु में किया जाय तो उनका शरीर तुरन्त ही क्षत-विक्षत हो जाय।

विवर में आंशिक रूप में जिन जन्तुओं को रहते या केवल जन्म लेते पाया जाता है उनकी बात हम छोड़ दें तो भी पूर्णत: विवरवासी विवरनिर्मायक कीटों की कमी नहीं। चींटी, बिलस्थ बर्रे, भुनगे आदि कितने ही कीट आजीवन विवरवासी होते हैं।

सौबा चींटा

सच पूछा जाय तो सौबा चींटा शुद्ध विवरनिर्मायक कीट

नहीं कहा जा सकता। यह भूमि के अन्दर बड़ा गड्ढा तो बनाता है, परन्तु भूतल से ऊपर भी विवर के ऊपर भींटा सा बना लेता है। यह बात अवश्य है कि उसके इस पूर्ण गृह में भींटे का अंश भूमि में खुदे अंश से कम ही होता है अतएव इसे विवरनिर्मायिक कहना अनुचित नहीं। इसके विपक्ष हम दीमक को देखते हैं जो भूमि में गडढा बनाकर ऊपर भींटा बनाती है परन्तु उसके निर्मित भींटे का आकार भूमि में खुदे भाग से बड़ा होता है।

सौबा चींटा अमेरिका के उष्ण कटिबन्ध में रहता है। वहाँ यह इतनी भारी संख्या में रहता है कि यह कभी-कभी बलपूर्वक भूमि पर अधिकार कर लेता है और वहाँ के खेतों के जोतनेवाले खेतिहरों तथा निवासियों को भगा देता है। इसकी चौड़ी पंक्तियाँ चलती दिखाई पड़ सकती हैं जिसमें प्रत्येक सौबा चींटा को जबड़े में एक गोल कटी पत्ती का टुकड़ा खड़े रूप में पकड़े पाया जाता है। इस विचित्र वृत्ति के कारण इसे पत्रवाही पिपीलिका भी कह सकते हैं। वैज्ञानिकों का विचार था कि पत्ती का यह कटा टुकड़ा वे धूप से बचने के लिए कदाचित् पकड़े चलते हों परन्तु अब उसका ठीक उपयोग ज्ञात किया जा सका है। पत्तियों के वे गोल टुकड़े बिल के अन्दर मढ़ने में काम आते हैं।

सभी चींटों के प्रायः तीन स्पष्ट भेद होते हैं। एक तो पक्षधारी होता है, दूसरा दीर्घशीर्ष या सैनिक होता है तथा तीसरा श्रमिक दल होता है। दीर्घशीर्ष चींटों के भी दो प्रकार होते हैं। एक तो सुचिक्कण शीर्षीय होता है तथा दूसरा विषमतल शीर्षीय या खुर-दुरे सिर का चींटा होता है। चिकने सिर वाले चींटे के सिर पर एक चिकनाया हुआ पारदर्शी शृङ्गीय टोप होता है, परन्तु खुरदुरे सिर के चींटे का सिर अपारदर्शी तथा रोममय होता है।

बड़े सिर वाला चींटा (दीर्घशीर्षीय) दैनिक श्रम कार्य में लिप्त

नहीं होता। श्रम का सारा कार्य साधारण श्रमिक चींटों पर ही पड़ता है। श्रमिक चींटे सदा वृक्षों पर आक्रमण करते हैं किन्तु विशेषतया हाथ से लगाए फलदार वृक्षों, नारंगी, काफी आदि पर ही इनका आक्रमण अधिक होता है। सौबा श्रमिक चींटे ने जहाँ किसी वृक्ष पर आक्रमण प्रारम्भ किया कि उसका संहार ही हो जाता है। वह इतना शीघ्र-शीघ्र पत्तियाँ नोच ले जाता है कि वृक्ष की बाढ़ सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। कभी-कभी पूरा वृक्ष ही सूख जाता है।

सौबा चींटों द्वारा पत्तियों के गोल कटे भाग का उपयोग उनके विवर के विचित्र गुम्बज या भींटे की छत छाना होता है। पत्तियों के मढ़ने से ऊपर मिट्टी गिरने का डर नहीं रहता। कुछ बुर्जों को विशालकाय देखा जाता है। उनका आकार दो फुट ऊँचा और चालीस फुट व्यास का हो सकता है। इन चींटों की प्रबल निर्माण-शक्ति आपेक्षिक रूप में मनुष्य के प्रबलतम उद्योग को भी नीचा दिखाने वाली है। इनमें श्रमविभाग अत्युत्तम पाया जाता है। जो श्रमिक चींटे वृक्षों से गोल कटी पत्तियाँ ढो लाते हैं वे तो उन्हें भूमि पर केवल फेंक भर जाते हैं। उनके लिए निर्धारित श्रम केवल वृक्ष से काट कर विवर तक पहुँचाना ही होता है। उन पत्रखण्डों को बुर्ज में मढ़ने का कार्य अन्य श्रमिक दल को मिला होता है। पत्तों के टुकड़े ज्योंही मढ़े जाते हैं उनके ऊपर मिट्टी की गोलियाँ मढ़ दी जाती हैं। कुछ समय में ही वे पत्तियाँ मिट्टी की गोलियों से सर्वथा ढक जाती हैं।

दीर्घशीर्ष चींटों का काम स्पष्ट नहीं ज्ञात होता। जो चिकने सिर के होते हैं, वे तो इधर-उधर घूमते ही ज्ञात होते हैं। वे सैनिक दीमकों की भाँति युद्ध नहीं करते। वे श्रमिक चींटों पर अनुशासन भी नहीं करते। उनमें डङ्क भी नहीं होता। आक्रमण होने पर वे

सामने टिकते नहीं दीख पड़ते। रोमशीर्षीय चींटे का कार्य तो और भी अधिक अज्ञात है।

यदि किसी नए बने भींटे या बुर्ज की परीक्षा की जाय जिसमें बुर्ज की छाजन हो रही हो तो उसका थोड़ा सा शीर्ष भाग हटा लेनें पर एक चौड़ी खड़ी नली मिलेगी। वह नली ऊपरी शीर्ष से लगभग दो फुट नीचे होगी। यदि उसे छड़ी से टटोला जाय तो तीन-चार फुट नीचे छड़ी ले जाने पर पेंदा नहीं मिलेगा। कुछ पुष्ट चींटे धीरे-धीरे उस सुरंग की चिकनी दीवाल पर चढ़ते मिलेंगे। उनका सिर द्वितीय श्रेणी के चींटों (दीर्घशीर्षीय) समान ही होगा किन्तु सामने का भाग चिकना होने के स्थान पर रोमाच्छादित होगा। उनमें माथे के मध्य में एक जोड़ी सादी आँखें होंगी परन्तु अन्यों में शीर्ष के पार्श्व भागों में मिश्रित रूप के नेत्र होते हैं। माथे के सामने की आँख अन्य श्रमिक चींटों में नहीं पाई जाती। वैसी आँख किसी भी अन्य जाति के चींटे में नहीं होती। इनके कार्यों का भी ठीक पता नहीं।

भूगर्भीय सुरंगें बहुत दूर तक बनी होती हैं। वे इतनी बड़ी तथा पेचीदी होती हैं कि उनका ठीक प्रसार तथा रूप ज्ञात करना कठिन हो सकता है। एक विवर में जब गन्धक का धुआँ डाला गया तो एक छिद्र सत्तर गज की दूरी पर स्थित होने पर धुआँ बाहर फेंकता पाया गया। ऐसे विस्तृत क्षेत्र में विवर खोदने वाले सौबा चींटे द्वारा जितनी हानि हो सकती है उसकी कुछ कल्पना की जा सकती है। एक विशाल जलखण्ड के बाँध में सुरंग बना-बना कर इन्होंने उसे इतना जर्जरित कर दिया था कि बाँध टूट गया और सारा पानी बह कर बाहर चला गया।

पक्षधारी सौबा में पूर्ण नर मादा की व्यवस्था होती है। वे जनवरी फरवरी में बाहर प्रस्थान कर जाते हैं। वे अन्य श्रमिक

सौबा चींटों तथा सैनिक चींटों से सर्वथा पृथक रूप के होते हैं। वे बड़े आकार के तथा गहरे रंग के होते हैं। शरीर विशेष गोला होता है। वे मधुमक्खी से अधिक मिलते-जुलते रूप के होते हैं। मादा एक यथार्थ बड़ा कीट होती है जिसके पङ्खों का फैलाव दो इञ्च होता है तथा शरीर का आकार मधुमक्खी के बराबर होता है। किन्तु नर का आकार छोटा होता है। सभी कीटों में नर-मादा की अपेक्षा छोटा होने का ही नियम है। विवर के बाहर निकले पक्ष-धारी सौबा कीटों में से कुछ ही जीवित बच पाते हैं। अधिकांश को पक्षी तथा अन्य कीटभक्षक जन्तु खा जाते हैं। संयोग से जो इने-गिने पक्षधारी सौबा बिल के बाहर होने पर बच रहते हैं, वे कहीं अन्यत्र नया उपनिवेश बसाते हैं। इनकी इतनी अधिक संख्या होती है कि बहुसंख्यक मृत होने पर भी अपनी जाति के लिए पुनः उपनिवेश बना सकते हैं। सन्तानोत्पादन का कार्य पक्षधारी सौबा चींटों का ही होता है।

धूसर चींटा

धूसर चींटे को चतुर शिल्पी या अट्टालिका-निर्मायक चींटा कह सकते हैं। यह भूमि में विस्तृत सुरंग खोद लेता है। उन सुरंगों का निर्माण पेचीदे नमूने का होता है। यह प्रायः कगारों को पसन्द करता है। यह अपने गृह को अनेक कोठों की अट्टालिका समान रूप दे सकता है। एक कोठा बना कर उस पर दूसरा-तीसरा कोठा खड़ा कर लेता है। सुरंग के नीचे सुरंगें खोदने के अतिरिक्त ऊपर भी कोठे बना लेना इसकी कुशलता होती है। ऊपर कोठे बनाने के लिए एक कोठे की छत पर नई तथा गीली मिट्टी की दूसरी तह बिछा कर उसे दूसरे कोठे के लिए फर्श बना लेता है। सूखे मौसम में उसका निर्माण-कार्य ठीक नहीं चलता क्योंकि मिट्टी में यथेष्ट आर्द्रता उसे प्राप्त नहीं हो पाती।

धूसर चींटे का पराक्रम तथा कष्टसहिष्णुता आश्चर्यजनक होती है। मनुष्य यदि उपकरण से सज्जित होकर भी उतना कार्य आपेक्षिक रूप में कर ले जितना एक चींटा कर दिखाता है तो वह संसार का एक आश्चर्यजनक व्यक्ति माना जाय। वैज्ञानिकों ने धूसर चींटे के निर्माण-कार्य का वर्षा के समय दिन भर अवलोकन करने का प्रयत्न किया है। एक बार एक चींटे का कार्य देखा गया। उसने भूमि में एक चौथाई इञ्च गहरी नाली बनाना प्रारम्भ किया। वह उस नाली से निकाली मिट्टी को लोंदे के रूप में बनाता और नाली के किनारों पर रखता जाता जिससे दीवाल-सी बनती जाती।

नाली का भीतरी तल अत्यन्त चिकना तथा व्यवस्थित था। पूर्ण होने पर वह ऐसा ज्ञात होता जैसे मानव श्रमिकों ने रेलवे लाइन के बगल की भूमि से मिट्टी खोदकर नपा तुला गड्ढा बनाया हो। इस कार्य को पूर्ण कर उसने विवर-छिद्र तक सड़क बनाने का निश्चय किया। इस पूर्व नाली के ठीक समानान्तर ही दूसरी खाईं बनाना प्रारम्भ किया जो पहली खाईं से एक तिहाई इञ्च ऊँची दीवाल द्वारा ही पृथक थी।

यदि इस धूसर चींटे के आकार की मनुष्य के आकार से तुलना की जाय तो उसने जितना श्रम अपने शरीर के अनुपात में किया और उस अनुपात में मनुष्य द्वारा कार्य किए जाने का अनुमान किया जाय तो मनुष्य श्रमिक को एक चींटे के श्रम की तुलना में निम्न कार्य करना पड़ेगा। उसे दो समानान्तर खाइयाँ खोदनी पड़ेंगी जिनमें से प्रत्येक ७० फुट लम्बी तथा साढ़े चार फुट गहरी हो। इसमें से खुदी मिट्टी को उसे कच्ची ईंटों के रूप में ढालना पड़ेगा। उन ईंटों से उसे खाइयों के दोनों किनारों पर दो या तीन फुट ऊँची और चौदह या पन्द्रह इञ्च मोटी दीवालें बनानी पड़ेंगी।

अन्त में अपने सब कार्य को पुनः सँवारने के लिए उसे इतनी दूरी तक दुबारा जाना पड़ेगा तथा भीतरी तल को बिल्कुल सीधा, चिकना और बराबर करना पड़ेगा। इतने कार्य में उसे तनिक भी सहायता दूसरे से न मिली होगी। अन्य बाधाएँ भी होंगी।

भूरा चींटा

भूरा चींटा कुछ विशेष भूभागों में ही पाया जाता है। यह रात्रिचारी कीट है। दिन को ओस के समय हल्की वर्षा होते रहने पर भी यह क्रियाशील रहता है। धूप से बहुत घबड़ाता है। भारी वर्षा में भी काम बन्द रखता है। इसका भूगर्भीय नीड़ बड़ी ही विचित्र रचना है। वह कई कोठों का बना होता है। प्रायः तीस-चालीस कोठे तक होते हैं। वे ढाल की दिशा में होते हैं। इन कोठों का रूप नियमित कोष्ठकों के रूप में शहद की मक्खी, बर्रे या हड्डा के विवर की तरह नहीं होता बल्कि बहुत अनियमित रूप और आकार की कोठरियों और दालानों के रूप में होता है। भीतर की ओर वह अत्यन्त चिकनाया होता है और उसकी ऊँचाई एक पंच-मांश इञ्च होती है। दीवालों की मुटाई एक इञ्च के चौबीसवें भाग के बराबर होती है। इतने अधिक कोठों की उपयोगिता अपने आवास-स्थल में ताप तथा आर्द्रता के नियन्त्रण करने में होती है। उदाहरणार्थ यदि सूर्य की धूप तीव्र नहीं है और इन कीटों की अन्त-प्रेरणा इन्हें इंगित करे कि इनकी इल्लियों को विकसित होने के लिए अधिक धूप आवश्यक है तो ये अपनी इल्लियों या प्यूपा को ऊपरी कोठों में ले जाते हैं। ऊँचाई की ओर होने से उन कोठों में धूप का अधिक प्रभाव होता है अतएव वहाँ प्यूपा को आवश्यक मात्रा में ताप प्राप्त होता है।

यदि वर्षा अधिक हो तो निचले कोठों में पानी भर जाने का

अवसर हो सकता है अतएव वे अपने अण्डों बच्चों के साथ ऊपरी कोठों में सहज ही स्थानान्तरित हो जाते हैं। वहाँ बाढ़ से उनकी रक्षा हो जाती है। यदि कभी सूर्य की किरणें प्रखर हों तो धूप के प्रभाव से बचने के लिए ये मध्यवर्ती कोठों में अण्डे बच्चे पहुँचा सकते हैं। वे स्वयं निम्नवर्ती कोठों में चले जा सकते हैं जहाँ सूर्य की किरणों की गर्मी नहीं पहुँचती। इस तरह अग्रसोची की भाँति ये अन्तः वृत्तियों या जन्तु-बुद्धि के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओं में जीवन-निर्वाह हो सकने के लिए गृह की ऐसी विचित्र व्यवस्था रखते हैं।

एक वैज्ञानिक ने कृत्रिम कीटशाला में इन चींटों को पालकर उनके गृह-निर्माण के लिए मिट्टी, रेत तथा अन्य उपकरण पहुँचाए। ये भीतर ही गृह बनाकर अपना रचना-कौशल दिखाते। मिट्टी सूखी हो जाने पर इनकी क्रिया बन्द हो जाती, परन्तु फौवारे से तनिक आर्द्रता पहुँचाई जाती तो वे तुरन्त गृह-निर्माण में लिप्त हो जाते। ये मिट्टी के पहले लोंदे बनाते हैं जिन्हें हम अपनी दीवालों में उपयुक्त कच्ची ईंटों के समतुल्य कह सकते हैं। ऐसे नन्हे-नन्हे लोंदे ढालकर वे गृह-निर्माण प्रारम्भ करते। उनका उपयोग करने के पूर्व वे अपनी मूँछ के लम्बे रोमों से उनकी दृढ़ता की जाँच कर लेते।

जहाँ कुछ चींटे कच्ची ईंटों के नमूने पर लोंदे ढालते रहते, वहाँ अन्य चींटे भूमि को खोदकर खाइयाँ सी बनाते। उन छिछले गड्ढों या खाइयों के मध्य जो उभाड़ रह जाता वह इनके गृह की नींव का काम करता। उसी के ऊपर मिट्टी के लोंदे रखकर दीवाल उठाई जाती। अपने जबड़े या अगले पैरों से ये उन लोंदों को इस नींव के ऊपर दबाकर बैठाते। इस प्रकार सुडौलता तथा दृढ़ता होती। सब से कठिन कार्य छत या छाजन बनाना है परन्तु

ये चींटे उसमें तनिक भी घटड़ाहट का अनुभव नहीं करते। दो इंच व्यास की छत ये बड़ी ही सुविधा से बना लेते हैं। छत बनाने की विधि लोंदों को दीवालों के कोनों में रखना है। खंभों के सिरे पर भी लोंदे रखे जाते हैं। लोंदों की एक पंक्ति ज्यों ही सूखती है, दूसरी पंक्ति तुरन्त रक्खी जाती है। कार्य इतनी तीव्रता तथा कुशलता से होता है कि कई केन्द्रों से कार्य प्रारम्भ होने पर भी सभी खण्ड ठीक जगह पर परस्पर मिल जाते हैं। लोंदे इतने सुडौल रूप से काटकर एक दूसरे के साथ बैठाए जाते हैं कि परस्पर चिपककर दृढ़ रचना बनाते हैं। एक बार बन जाने पर ये दीवालें बड़ी पुष्ट हो जाती हैं। धूप और वर्षा उन्हें और भी दृढ़ करती हैं। बहुत अधिक सूखा या धूप भारी विघ्न होता है। उस दशा में वे रचना को तोड़कर टुकड़े अलग-अलग कर देते हैं।

यह उल्लेखनीय बात है कि किसी संयोगवशात् प्राप्त अवस्था का पूर्ण उपयोग भूरे चींटे द्वारा गृह-निर्माण में होता है। एक स्थान पर भूरे चींटों द्वारा गृह-निर्माण कार्य संचालित रहने पर दो तिनके एक दूसरे को बीच में काटने से मिले। उनका धन्नी की तरह उपयोग कर चींटों ने छत बनाना प्रारम्भ किया। पहले इन तिनकों द्वारा बनाए कोणों पर लोंदे रक्खे गए। फिर प्रत्येक तिनके के पार्श्वों में लोंदे बैठाए गए। भूरे चींटे के जबड़े तथा पैरों की क्रियाशीलता से छत शीघ्र बन गई। वह साधारण रूप की निरवलम्ब बनी छत से अधिक पुष्ट भी थी।

पीला चींटा आर्द्र भूभागों और उपवनों में पाया जाता है यह कुशल विवर-निर्मायक होता है। इसका गृह भूरे चींटे समान विशाल तथा भव्य नहीं होता, यह पत्थरों के नीचे बिल बनाने को अधिक उत्सुक होता है। चौड़े पथरीले खपरैलों के नीचे सैकड़ों चींटों के विवर बने मिल सकते हैं। यह विचित्र रूप का समाज-

प्रिय कीट है। एक टीले के एक ओर यह अपने विवरों का उपनिवेश स्थापित रख सकता है जिसके दूसरी ओर दूसरी जाति के चींटे के गृह बने हों।

"चींटे के पर जमना" एक लोकोक्ति ही है जिसका भाव यह है कि विनाश काल निकट आने के पूर्व कुछ सफलता या शक्ति की वृद्धि होती पाई जा सकती है। यह चींटे के जीवन में अवश्य सत्य घटित होता है। इनके पङ्ख अल्पकालीन ही होते है जो आधार के निकट एक दरार से कट गिरते हैं किन्तु ऐसे भी बहुत कीट हैं जिनमें पर की व्यवस्था स्थायी होती है इनमें। विवरवासी जातियाँ भी पाई जाती हैं।

भूछेदक मधुमक्खी

भूछेदक मधुमक्खी कुशल विवर-निर्मायक है। छोटा आकार होने पर भी यह भूमि के अन्दर बड़ी सरलता से गहरा खोद डालती है। ये पथरीले मार्ग को छेदकर भी अपने विवर खोद लेती है। ये विवर के द्वारों से निकलती तथा फूलों को सेचित करती हैं, साथ ही पराग का भण्डार ढोकर खाने के लिए विवर में भी संचित करती है।

एक स्थान पर इन्हें ऐसी पथरीली भूमि में विवर खोदते देखा गया है जिसमें छोटा मोटा चाकू नहीं धँसाया जा सकता था। पत्थर मिश्रित होने, नित्य लोगों के चलने से दबाव पड़ने तथा ग्रीष्म की तीव्र धूप द्वारा झुलस सा जाने से वह भूमि पकी हुई ईंट से भी अधिक कड़ी हो गई थी।

इस कड़ी भूमि को खोदने के लिए मोटे फलक वाले चाकू को उपयोग में लाना पड़ा। बड़े परिश्रम के पश्चात् कितने ही विवरों का पता चला। इसके विवर औसत रूप में आठ इञ्च गहरे

खुदे थे। अन्त में वे सहसा टेढ़े हो जाते थे। अन्तिम भाग एक गोल कक्ष रूप में होता था। उसी में परागों के भंडार रूप में मटर के बराबर एक गोला पड़ा रहता था।

विवर खोदने और परिवार के पोषण का सारा भार मादा पर ही होता है। नर के अगले पैर खुदाई कर सकने में असमर्थ होते हैं। उसके पिछले पैर पराग वहन कर सकने में भी असमर्थ होते हैं।

भूछेदक मधुमक्खी की ही एक जाति लम्बपुच्छीय कही जाती है। उसके मुख के आगे संवेदनशील मुच्छीय रोम बड़े आकार का होता है। इसके अगले पैर के प्रथम जोड़ पर एक दाँता भी होता है। भूछेदक मधुमक्खी की ही तरह यह भी पृथ्वी में विवर खोदती है। किन्तु इसका विवर अधिक गहरा होता है और चिकनी मिट्टी के स्थल को अधिक पसंद करती है। विवर का अन्तिम भाग अंडाकार रूप में परिवर्तित होता है। उस कक्ष की दीवालों को दबा और पीटकर यह यथेष्ट कड़ी बना देती है। इस सावधानी का यह कारण है कि उस कक्ष में मधु और पराग का मिश्रित भंडार संचित किया जाता है। वह अर्द्ध द्रव रूप में रहता है। यदि कक्ष की दीवाल कड़ी न हो तो इस खाद्य-पदार्थ को सोख ले।

कक्ष के अन्दर अंडे दिये जाते हैं। समय आने पर उसी से लार्वा (इल्ली) उत्पन्न होता है। मीठे मधु तथा पराग का भंडार उसके आहार के काम आता है। यह चारों ओर से उसे आवेष्ठित रक्खे होता है। इल्ली विकसित होकर प्यूपा अवस्था में पहुँचती है जो अंडे से नवजात इल्ली तथा पूर्ण कीट का रूप बनने के मध्य की अवस्था होती है। प्यूपा के शरीर पर साँप की केंचुल समान आवरण होता है। मुच्छीय रोम भी निकले होते हैं। इस आवरण से निकलने में नर को कठिनाई होती है परन्तु पैर की प्रथम संधि

के दांते से सहायता प्राप्त होती है। ज्योंही यह आंशिक रूप में केंचुल से बाहर निकला होता है, अपने सिर को झुकाकर प्रत्येक मूछ को दांते में फँसा देता है। उसी पर पाद-संधि भी दबा देता है। मूंछ को दांते के मार्ग बाहर निकल जाने का अवसर होता है। इसके बाद केंचुल को बिल्कुल हटा देना सरल कार्य होता है।

इन जन्तुओं की मादाएँ निरन्तर कार्यसंलग्न रहती हैं। नर तो सैर-सपाटे में ही समय व्यतीत करते हैं। मादा ही बिल खोदती और संचित करने के लिए खाद्य-भंडार बाहर से ढो लाती है। प्रकृति ने इनमें ऐसे ही रूप की अन्तर्प्रेरणा किसी प्रकार दी है जिससे इनका जीवन-कार्य चलता रहता है।

द्वियुग्मांकी मधुमक्षिका

शरीर पर दो जोड़े (द्वियुग्म) धब्बे होने से इस पक्षधारी कीट को द्वियुग्मांकी नाम दे सकते हैं। इल्ली अवस्था में यह हिंसक होता है और मादा इसे विवर में उस जन्तु को प्रदान करती है जिसे यह भक्षण करता है। विवरवासिनी मधुमक्षिका की स्कोलिया प्रजाति की यह एक जाति है। कुछ विवरवासी मधुमक्षिकाएँ या स्कोलिया की कुछ जातियाँ दूसरे कीटों की इल्ली से ही अपनी इल्ली का पोषण कराती हैं। कुछ अन्य जातियों की विवरवासी मधुमक्षिकाओं की इल्लियाँ भुनगे खाती हैं, कुछ मधुमक्खी ही खाती है, कुछ मकड़ा पसंद करती है तथा कुछ को मक्खियाँ या अन्य कीटों के कैटर-पिलार खाते पाया जाता है।

द्वियुग्मांकी मधुमक्षिका अपनी इल्ली के आहार के लिए भुनगे की इल्ली या नवजात शिशु प्रदान करती है। विवर के अन्दर कई पड़ी मिल सकती हैं। उनमें बड़ी इल्ली ही खाई जाने वाली होती है जो भुनगे की इल्ली होती है। छोटी इल्ली इस मधुमक्षिका की

होती है जो उस बड़ी इल्ली को खाकर अपना पोषण करती है। इस जाति की मधुमक्खियों की पीठ पर चार स्पष्ट धब्बे इनकी निश्चित पहचान है। एक दूसरी विवरवासी मधुमक्खी तेलचट्टा को अपने बिल में अपनी इल्ली के आहार के लिए पहुँचाती है। यह बड़ी कुशलता से पीछे की ओर चलकर तेलचट्टा बिल में घसीट ले जाती है।

मकरीभक्षक कीट

कुछ विवरवासी मक्षिकाओं की जातियाँ अपनी इल्लियों के आहार के लिए मकड़ी उपयुक्त समझती हैं। अतएव इन सब जातियों को मकरीभक्षक मधुमक्षिका प्रजाति कह सकते हैं। इन सब के बिवर में मकड़ी संचित पाई जाती हैं। इन मक्खियों को बलुही भूमि पसन्द पड़ती है। कुछ तो सूखे कठोर बलुहे कगारे पसन्द करती हैं, परन्तु कुछ शिथिल बालू की भूमि ही अपने विवर के लिए पसन्द करती हैं।

बलुहे स्थल की निवासिनी बर्रे या ततैया भी मकरी-भक्षण द्वारा अपनी इल्लियों का पोषण करती है। यह बड़ी प्रबल विवर-निर्मायक होती है। यह बड़े विकट उत्साह से अपना कार्य प्रारम्भ करती है। उसके मुच्छीय बाल सदा कम्पित रहते हैं, पंख भी उत्तेजना के साथ गतिशील पाए जाते हैं। जब विवर पूर्ण बन जाता है तो मादा ततैया अपनी जाति-वृत्ति के अनुसार कैटरपिलार या मकड़ी की खोज में बाहर निकल जाती है। विवर के अन्त में एक छोटा कक्ष खुदा होता है, उसी में उसे पहुँचाती है।

बर्रे या ततैया सदा अपना शिकार जबड़ों में दबाकर उल्टे ही भीतर विवर में प्रवेश करती है। उसका शिकार इतना बड़ा होता है कि उसे कठिनाई से ही भीतर घसीट ले जाती है। यदि विवर

यथेष्ट चौड़ा न होता तो उसका फिर बाहर निकल सकना बिल्कुल कठिन ही होता। जब शिकार को वह विवर के कक्ष में ठीक तरह सँभाल लेती है तो उसी के ऊपर अपना अंडा दे देती है। फिर विवर से बाहर आकर उसका मुख कंकड़ी से बन्द कर नए शिकार

मकरीभक्षक ततैया का बिल

की खोज में चली जाती है। दुबारा-तिबारा शिकार ला-लाकर वह विवर के कक्ष में रखती और उन पर अंडे देती जाती है। जब चार पाँच अंडे दे दिए जाते हैं जिनके लिए आहार की व्यवस्था पहले ही कर चुकी होती है तो अंडा देने का कार्य समाप्त कर वह बाहर आती है और विवर का मुख भलीभाँति बन्द कर देती है। यह

उसके जीवन का अन्तिम कृत्य ही होता है। अंडों को विवर में सुरक्षित रख लेने के बाद वह बाहर उड़ कर मृत हो जाती है।

भारत में एक मकरी-भक्षक पक्षधारी कीट (स्फेक्स स्कुटिजेरा) होता है। उसका शरीर तीन चौथाई इञ्च लम्बा होता है। उसका रंग चमकीला हरा होता है। अपने नवजात शिशुओं (इल्लियों) के आहार के लिए यह बड़े मकड़ों तथा तेलचट्टा का शिकार करता है। इन्हें पकड़ने में वह बड़ा कौशल दिखलाता है। एक बार एक मकरीभक्षक ने एक मकरा पकड़ा। वह इतना भारी था कि उड़ कर ढोना कठिन था। इसलिए उसने एक तट तक घसीट कर पानी में डाल दिया और उस पर बैठ कर उसे दूर तक बहते जाने दिया। कुछ डूबता सा देख वह दूसरे तिनके पर बैठ कर साथ बहता रहा। अन्त में किनारे लगने पर उसे फिर घसीटने की उसने कोशिश की किन्तु निष्फल रहा। अन्त में छोड़ कर जाना पड़ा।

एक पक्षीभक्षक पक्षधारी कीट (मेलिनस अरवेंसिस) होता है। विस्मय की बात है कि मक्षीभक्षक स्वयं तो मन्द गति का होता है और जिन मक्खियों को पकड़ता है, वे उससे °तीव्रगामी होती हैं, फिर भी कौशल से उन्हें पकड़ लेने का प्रयास करता है। इसके लिए वह धीरे धीरे ऐसे स्थानों के निकट रेंगता रहता है जहाँ मक्खियों के भारी झुण्ड एकत्र रहते हैं। किसी मक्खी के निकट आकर उस पर अचानक आक्रमण कर पकड़ लेता है। इस तरह कितनी ही मक्खियों को पकड़ कर अपने विवर में पहुँचाता है। छः या सात मक्खियाँ बिल में पहुँचाई जाती हैं। अंडे से उत्पन्न होते ही इल्ली एक-एक कर मक्खियों को खाना प्रारम्भ करती है। कोमल अंग खाकर कठोर भाग छोड़ देती है। दस दिन तक इन्हें खाकर इल्ली भोजन-कार्य पूर्ण करती है। फिर अपने शरीर पर एक दृढ़ गहरे रङ्ग का कोष चढ़ा लेती है। शीतकाल उसी रूप

में व्यतीत कर ग्रीष्म में प्यूपा बनती है। इसके पश्चात् पूर्ण पक्ष-धारी कीट रूप वर्षा के अन्त में प्राप्त करती है।

एक बिलस्थ पक्षधारी कीट फाइवैंथस ट्रैंगुलम नाम का होता है। यह छत्ते बनानेवाली मधुमक्खियों को पकड़ कर अपने विवर में ले जाता है। यह भयानक रूप का जन्तु है। सिर बड़ा और जबड़ा चौड़ा होता है। पीले उदर तथा काले धब्बों के कारण बर्रें समान ही जान पड़ता है। छत्ते वाली मधुमक्खियों को छोड़ कर अन्य कीटों को भी पकड़ता है।

अट्टालिका-निर्माता मधुमक्षिका

बिल में रहने वाली मधुमक्खी (बाम्बस टेरेस्टरिस) को अट्टा-लिका-निर्माता मधुमक्षिका कह सकते हैं। यह यथेष्ट गहरा विवर बना लेती है। किसी कगारे के किनारे इसकी कुछ जाति के विवर बने मिल सकते हैं। प्रायः एक फुट या डेढ़ फुट की गहराई में इसका जनन-कक्ष बना हो सकता है। जहाँ मिट्टी भुरभुरी हो वहाँ जनन-कक्ष बहुत अधिक गहराई में पाया जाता है। अन्तिम छोर तक पहुँचने के लिए एक विवर में ऊपरी छेद से एक लम्बवत पाँच फुट लम्बा डन्डा प्रविष्ट किया जा सकता है। कदाचित किसी चूहे के विवर द्वारा ही इतना विवर बन सकने में उसे सहायता मिली होगी।

इस मधुमक्षिका के विवर-निर्माण की कथा बड़ी विचित्र ही है। वर्षा ऋतु बीत चुकने पर शरद् के आगमन पर इन जातियों की सभी मधुमक्खियाँ मर चुकी होती हैं। नर तो अवश्य ही मर चुके होते हैं, परन्तु इक्का-दुक्का मादाएँ कहीं जीवित रह सकी होती हैं और वे शीतकालीन दीर्घ निद्रा में पड़ी जीवन-यापन करती हैं। वे अपनी शीतकालीन दीर्घ निद्रा के लिए अपने विवर को नहीं

चुनतीं बल्कि इक्के-दुक्के कहीं छिपे स्थानों में पड़ी रहती हैं। छप्परों, वृत्त-कोटरों, पुआल की ढेरियों या खंडहरों में उनके छिपने का स्थान मिल जाता है।

बसन्त के आगमन पर सूर्य की किरणें तीव्र हो चलती हैं, शीत देशों के जन्तु अपनी शीतकालीन दीर्घ-निद्राएँ भग्न करते हैं। उन्हें नया आवास ढूँढ़ने की चिन्ता होने लगती है। बाम्बस टेरेस्ट्रिस नामक जाति की भूजोवी मधुमक्खी की बची-खुची मादाएँ बसन्त ऋतु में इधर-उधर उड़ती दिखाई पड़ सकती हैं। वे सर्वत्र भूमि की परख सी करती जान पड़ती हैं। कदाचित अपने वंश-वृद्धि की अत्यधिक चिन्ता में ही उनका हृदय इतना अधिक शंकित रहता है कि कहीं भी किसी दर्शक की आहट पाने पर वे अन्यत्र भाग जाती हैं। कुछ समय बाद बिल्कुल निश्चित अनुभव करने पर ही कहीं हरियाली की ओट के स्थान में विवर खोदना प्रारम्भ करती हैं।

एक बार स्थान निश्चय कर लेने पर यह जल्दी-जल्दी भूमि खोदती है। यथेष्ट गहराई तक विवर खोद चुकने पर वह अन्त में जनन-कक्ष निर्मित करती है। प्रारम्भ वर्ष में कुछ ही कोष्ठक बनते हैं जिनमें मादा अंडे देती है। इनमें श्रमिक मधुमक्षिकाएँ उत्पन्न होती हैं जो विवर को विस्तृत बनाने में संलग्न होती हैं। इनकी इल्लियाँ बड़ी, मोटी, श्वेत तथा गोल शरीर की होती हैं। उनमें छोटे शृङ्गीय शीर्ष होते हैं। पोषण प्राप्त कर ये अपने शरीर के चारों ओर कड़ी खोल चढ़ा लेती हैं और कुछ समय में पूर्ण आकार प्राप्त करती हैं। उस समय खोल में छोटा छेद कर वे बाहर निकल आती हैं।

प्रारम्भ में ये कीट कुछ समय तक बाहर उड़ने का साहस नहीं करते। उनके शरीर पर के मोटे रोम परस्पर गुँथे पड़े होते हैं।

पङ्ख लचीले तथा भङ्गुर होते हैं, पैर दुर्बल होते हैं। ये सब कुछ दिन में बल पाकर पुष्ट हो जाते हैं और उन्हें उड़ने का अवसर देते हैं। वर्षा के प्रथम भाग में केवल श्रमिकों का उदय हुआ रहता है। नर मादा ग्रीष्म के आगमन पर ही दिखाई पड़ सकते हैं।

भूजीवी मधुमक्षिका के कोष्ठक किसी नियमित पंक्ति में छत्ते की भाँति नहीं बने होते। वे छोटे या बड़े रूप में एक जगह बने होते हैं। कहीं दो तीन का गुट्ट होता है, एकाकी कोष्ठक भी पाए जाते हैं। इन मधुमक्खियों की संख्या बहुत ही अधिक होती है। एक विवर में एक वैज्ञानिक ने १०७ नर, ५६ मादाएँ तथा १८० श्रमिकों को देखा। इन सब का योग ३४३ था। छत्ते में रहने वाली मधुमक्खियाँ एक छत्ते में इससे अधिक संख्या में अवश्य पाई जाती हैं, परन्तु भूजीवी मधुमक्षिकाओं का आकार बड़ा होता है, अतएव इतनी संख्या का एक विवर में होना भी आश्चर्य की बात ही है। इनके रहने के कोष्ठक भी बड़े होने से स्थान अधिक घेरते हैं।

इन मधुमक्खियों का संचित मधु मनुष्य के लिए खाद्य नहीं होता। उसमें कुछ मादकता या विष का समावेश होता है।

भूजीवी मधुमक्षिका की मादा एक इञ्च लम्बी होती है। उसका रंग काला होता है। गले में नारंगी पीली पट्टी होती है। उदर की दूसरी फाँक के निकट भी इसी रंग की पट्टी होती है। चौथी फाँक का सिरा तथा पूर्ण पाँचवाँ फंक मटमैला पीला होता है। उदर की कोर नग्न होती है। श्रमिक का आकार रानी का आधा ही होता है। रंग वैसा ही होता है परन्तु पीले रोमों में श्वेत रोम मिश्रित होते हैं। श्रमिक और मादा के मध्य का आकार नर का होता है। उसकी लम्बाई तीन चौथाई इञ्च होती है। मादा की अपेक्षा पीला

रंग चमकीला होता है। उदर की छोर पर हल्के पीले लाल रंग के रोम उगे होते हैं।

भूजीवी मधुमक्षिका के समान एक मधुमक्षिका की दूसरी जाति प्रस्तरजीवी (बाम्बस लेपिडारियस) कहलाती है। यह पत्थर के ढोंकों के मध्य विवर बनाती है। इसके उदर के अन्तिम तीन छोरों का रंग चमकीला नारंगी लाल होता है। श्रमिक और मादा के रंग समान होते हैं, केवल आकार में भेद होता है। मादा की लम्बाई सिर से लेकर दुम की छोर तक एक इञ्च होती है। श्रमिक इसके आधे लम्बे होते हैं। नर के विभिन्न रंग होते हैं परन्तु प्रायः काला रंग होता है, मुख, वक्षस्थल के अग्र भाग तथा उदर के प्रथम फाँक पर मोटे पीले बाल निकले होते हैं।

यह मधुमक्खी अधिक डरावनी होती है। इसका विषैला डङ्क प्रबल अस्त्र होता है। उसके मारने से कई दिन तक दर्द रहता है। पथरीले ढोंकों की ढेरी में यह विवर बनाती है। चूने के पत्थरों के भग्न अंश में भी रह जाती है या भूजीवी मधुमक्खी की तरह भूमि पर विवर खोदती है।

बर्रे

साधारण बर्रे मधु, पके फल तथा शक्कर का प्रेमी होती है। इसके शरीर में डंक एक प्रबल अस्त्र होता है। बगीचों में यह पके फलों में छेद कर खाती है, परन्तु यह कितनी मक्खियों को भी मारती है जिनकी इल्लियाँ बाग के पौधों की जड़ें ही खाकर उन्हें सुखा सकती हैं। अतएव इसके द्वारा हानि के साथ कुछ लाभ भी कृषकों को पहुँच सकता है। यह बड़ा साहसी कीट है तथा भोजन प्राप्त करने के लिए विचित्र युक्ति करता है।

एक वैज्ञानिक ने एक सूअर धूप में बैठे देखा जिसके शरीर

पर मक्खियाँ भारी संख्या में बैठी पड़ी थीं। उस सूअर के शरीर पर पीले रङ्ग का जन्तु उड़कर कोई मक्खी झपट ले जाता। सूअर को उससे कुछ असुविधा नहीं होती। मक्खियाँ भारी संख्या में वहाँ बैठी ही रहतीं और एक-एक कर कितनी उस पीत रंग के आक्रामक द्वारा पकड़ ली जातीं। वह बर्रे ही थी जिसे सहज रूप में भारी संख्या में एक स्थान पर पड़ा शिकार प्राप्त हो जाता। प्रति दस सेकेण्ड पर एक बर्रे आकर सूअर के शरीर पर से एक मक्खी पकड़ ले जाती।

बर्रे का निवासस्थान भूमि के अन्दर पाया जा सकता है उसका गृह एक अद्भुत कौशलपूर्ण कार्य होता है। उसका आकार प्रायः गोल होता है। उसमें उपयुक्त सामग्री मोटे भूरे कागज़-सी होती है किन्तु उतनी दृढ़ नहीं होती।

यदि उसके विवर को खोदा जाय तो विचित्र दृश्य दिखाई पड़ सकता है। पंक्ति रूप में बने षट्भुजीय कोष्ठकों के टीले के टीले मिल सकते हैं। ये कागज की तरह पतले आच्छादन से ढके होते हैं जिससे मिट्टी ऊपर से न गिर सके। एक-एक पंक्ति को कोष्ठक-अट्टालिका कह सकते हैं।

वसंत के आरम्भ काल में बर्रे किसी ऐसे स्थान से बाहर होती है जहाँ उसने शीतकाल व्यतीत किया होता है। वह चारों ओर भूमि का ध्यान से निरीक्षण करती है। वह न तो ऊँचे उड़ती है और न तीव्रगति से ही उड़ती है। भूतल के निकट ही धीरे-धीरे उड़ती जाती है। प्रत्येक भींटे, दरार आदि को पारकर उसका भली-भाँति निरीक्षण करती है। कहीं किसी चूहे के परित्यक्त विवर या किसी कीट की प्रत्यक्ष सुरङ्ग को पसन्द कर लेती है। उसमें बारबार प्रवेश कर ठीक तरह निरीक्षण कर लेती है। यह उसके गृह-निर्माण के लिए उपयुक्त स्थल ढूँढ़ने का प्रयास होता है।

एक बार एक उपयुक्त स्थान चुनकर वह एक कक्ष धरातल से कुछ गहरे तल पर बनाती है। मिट्टी के खण्ड तोड़-तोड़ कर वह बाहर फेंकती जाती है। अपनी इच्छानुसार कक्ष बना चुकने पर उड़ जाती है और किसी पुराने सड़े-गले लट्ठे पर जा बैठती है। वहाँ से वह काठ के नर्म भाग को काटकर पृथक करती है। काष्ठ तन्तु को गुद्दी-सा बनाकर वह पुनः अपने निर्मित कक्ष में पहुँचाती है। काठ की गुद्दी उसके कक्ष में प्रयुक्त होती है।

विवर के अंदर खुले कक्ष की छत में पिछले पैर के जोड़े से चिपक जाती है तथा अंतिम अगले पैर के जोड़े तथा जबड़े से वह काठ की गुद्दी छत में स्थित करती है। वह छत से लटकता हुआ स्तंभ-सा बनकर ऐसा ही रूप धारण करता है जैसे बरगद की शाखाओं से जड़ें नीचे निकलती होती हैं। उसमें काठ की गुद्दी बार-बार लाकर वह संयुक्त करती जाती है जिससे अंत में वह एक छोटा स्तंभपूर्ण बन जाता है। अब वह कोष्ठक-जाल बनाने लगती है। स्तंभ के अंत में तीन छिछले कोष्ठक बनाती है। वे कोष्ठक (कोठरियाँ) प्याली-नुमा होते हैं। अन्य कोष्ठकों की भाँति छः पहल (षट्भुज) नहीं होते। इन छिछले प्यालों में से प्रत्येक में वह एक-एक अंडे देती है। फिर उसके ऊपर छत बनाती है। कोष्ठक बनाने के पदार्थ का ही उसमें भी उपयोग होता है किन्तु वह अन्य रूप में रक्खा होता है काठ के रेशों की लंबाई उस नियोजित कोष्ठक के केन्द्र से समकोण बनाती है। अन्य कोष्ठक बनाए जाते हैं। उनमें अंडे दिए जाते हैं। तथा उन पर छत बिठाई जाती है।

प्रथम तीन कोष्ठकों में दिए अंडों से कुछ समय में इल्लियाँ निकलती हैं। वे भुक्खड़ और क्षुद्रकाय होती हैं। उनकी सतत चिन्ता रखनी पड़ती है। वे बड़ी शीघ्र विकसित होने लगती हैं। उनकी

आकारवृद्धि के ही अनुसार बर्रें उनके कोष्ठक की दीवाल को बड़ा करती जाती है।

कोष्ठकों की दीवाल इल्लियों की आकार-वृद्धि के अनुसार बढ़ाते जाने का यह परिणाम होता है कि इल्लियाँ लटकी-सी रहती हैं और उनका मुख नीचे की ओर रहता है। ऐसे कीटों में प्रायः ऐसी व्यवस्था ही होती है। मादा को ही सारे कार्यों की चिन्ता करनी पड़ती है। कक्ष विस्तृत करना, अंडे देने के कोष्ठक बनाना, बाहर से सामग्री लाना, अंडे देना तथा भुक्खड़ इल्लियों को भोजन पहुँचाना उसके अनवरत कार्य होते हैं।

कुछ दिनों के बाद इल्लियों का भोजन-कार्य समाप्त हो जाता है। वे कोश (खोल) निर्माण कर उसके अन्दर दीर्घ निद्रा में पड़ जाती हैं। यह कायापलट के लिए कीटजगत की सार्वभौम व्यवस्था-सी ही है। इसलिए उनकी चिन्ता से मादा मुक्त हो जाती है। समय पूर्ण होने पर वे पूर्ण अवस्था प्राप्त कर अपना कोश (खोल) काटकर बाहर निकल आती हैं। उनके पुष्ट हो जाने पर मादा को केवल अंडे देने का कार्य रह जाता है।

कुछ समय में कोष्ठकों की पहली अट्टालिका पूर्ण हो जाती है। फिर भी स्थान की आवश्यकता रहती है। अतएव दूसरी अट्टालिका का सूत्रपात करना पड़ता है। इन कोष्ठकों के संधिस्थल पर लटकते हुए कई स्तम्भ पहली अट्टालिका के प्रारम्भ के समान बनाये जाते हैं। इनमें कोष्ठकों को जोड़ने से पहली अट्टालिका के नीचे कोष्ठकों की दूसरी अट्टालिका बन जाती है। इन दोनों के मध्य इतना ही स्थान रहता है कि मादा चलकर इस पार से उस पार तक जा सके। इन सबमें कोष्ठकों का मुख अधोवर्ती ही होता है तथा उनके आधार ऊपर की ओर होते हैं। अतएव दूसरी कोष्ठक अट्टालिका के आधार-स्थल एक मंच बनाते हैं जिस पर मादा बर्रें चलकर

ऊपरी कोष्ठकों की इल्लियों को आहार प्रदान कर सके। इसी प्रकार कोष्ठकों के नए निर्माण द्वारा तीसरी, चौथी, पाँचवीं आदि अट्टा-

बर्रे की भूगर्भीय अट्टालिका
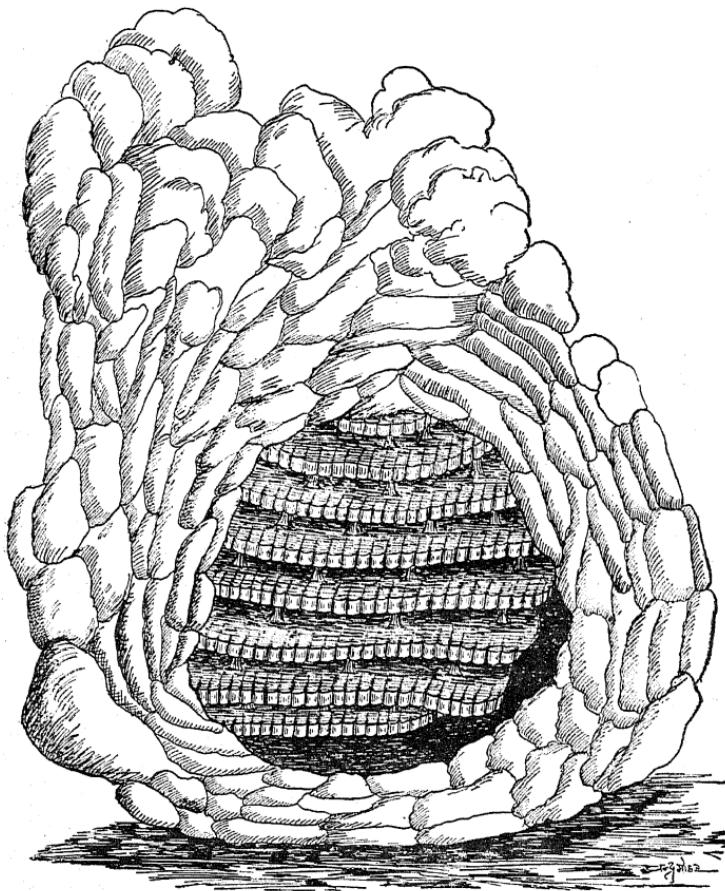
लिकाएँ बनती हैं। वे सब एक दूसरे के समान ही होती हैं। कोष्ठक

इतने छोटे होते हैं कि उनके द्वार में मादा बर्रे अपना सिर भी नहीं डाल सकती ।

एक बार पूर्ण रूप प्राप्त होने के बाद कीटों की वृद्धि नहीं होती । अतएव इन कोष्ठकों में उत्पन्न इल्लियों के पूर्ण रूप प्राप्त होने पर मादा बर्रे से अवश्य ही बहुत छोटा आकार ही होता है । यथार्थ में वे श्रमिक बर्रे ही होती हैं । उन्हें कभी-कभी नपुंसक बर्रे भी कहा जाता है । उसका सारा जीवन श्रम करने के लिए ही होता है । इन्हें यथार्थतः अर्द्ध विकसित मादा कहा जा सकता है ।

बर्रे के निर्माण-कार्य में परिवर्तन उपस्थित होने का भी एक समय आता है । बाद में जो थोड़ी सी अट्टालिकाएँ निर्मित होती हैं उनमें कोष्ठक बहुत बड़े आकार के होते हैं । वे उन इल्लियों के सृजन के लिए होते हैं जिनसे पूर्ण आकार के नर और मादा बर्रे का जन्म होता है । अतएव यह देखा जा सकता है कि वर्ष के प्रारम्भ में श्रमिक बर्रे का ही जन्म होता है । नर और मादा नहीं उत्पन्न होते । जनन ऋतु के अन्तिम भाग में ही नर मादा उत्पन्न होते हैं ।

चौथी, पाँचवीं अट्टालिका बन जाने के बाद ही बड़े कोष्ठकों की अट्टालिकाएँ निर्मित होती हैं । अट्टालिकाओं का व्यास पहले बढ़ता जाता है किन्तु बड़े कोष्ठक बनाना प्रारम्भ होने पर अट्टा-लिकाओं का व्यास कुछ छोटा होने लगता है ।

बर्रे के बड़े गृह में कुल सात या आठ हजार कोष्ठक हो सकते हैं । प्रायः प्रत्येक कोष्ठक में तीन पीढ़ियों का जन्म होने का अवसर होता है । इन सब की इल्लियों को यथेष्ट आहार आवश्यक होता है जो जान्तव पदार्थ ही हो सकता है । अतएव इतनी अधिक संख्या की इल्लियों द्वारा कितने अधिक कीड़े-मकोड़े आदि भक्षण किए जाते होंगे, इसकी कल्पना की जा सकती है । नर और मादाओं के

उत्पन्न होने वाले कोष्ठकों में एक स्तर से अधिक नहीं पाया जाता इसलिए उनकी एक पीढ़ी ही उत्पन्न होने का आभास मिलता है ।

इल्लियों का रेशमी आवरण सदा उन्नतोदर होता है और वह कोष्ठक के मुख को एक गोल रूप में बनाती है । अतएव कोष्ठक को भीतर प्यूपा के रहते हुए ही अट्टालिका से पृथक किया जाय तो उसके दोनों छोर समान मिल सकते हैं । इन आवरणों या कोशों से कभी मध्य का भाग फाड़कर कभी गोल छेद काटकर प्यूपा बाहर होते हैं ।

अट्टालिका को प्रचंड प्रकाश में देखने पर कोष्ठकों की दीवालें स्पष्ट दिखाई पड़ सकती हैं । कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि काठ की लुगदी से दीवाल बनाने के स्थान पर कागज के टुकड़ों को अपने नीड़ के निकट पाकर बर्रें अपने कोष्ठकों की दीवाल रूप में प्रयुक्त कर लेती हैं । उसे बनी-बनाई चौड़ी वस्तु दीवाल के योग्य मिल जाती है, इसलिए काठ की लुगदी से वैसा रूप बनाने का श्रम बच जाता है । इन कोष्ठकों की छत दीवालों की अपेक्षा अधिक पुष्ट होती है । वह रेशेदार लुगदी को नीड़ के ऊपर लेपने से बनी होती है । उसे चपटा करने के लिए आगे पीछे की ओर मर्दित सा किया जाता है । यह क्रिया राज द्वारा कन्नी से ईंटें जोड़ने के गारे या मसाले को दबाकर चिकनाने समान होती है ।

काठ की लुगदी से बनी रचना द्वारा इतने अधिक जन्तुओं का बोझ सँभाला जा सकना आश्चर्य की बात ही जान पड़ती है । हजारों अंडों और इल्लियों का भार तो और भी अधिक होता है, परन्तु बर्रे की इस रचना द्वारा उनका बोझ भली-भाँति सँभाला जा सकता है । दीवालें देखने में दुर्बल लगने पर भी यथेष्ट पुष्ट होती हैं । कोष्ठकों का छपहल रूप ऐसा पारस्परिक अवलम्ब उत्पन्न करता है कि दीवालें केवल अपने अन्दर अंडों बच्चों का ही भार नहीं

सँभाल सकतीं बल्कि नीचे लटकी सभी अट्टालिकाओं का भार भी सँभालने में पूर्ण समर्थ होती हैं।

बर्रे के विशाल गृह में जब जनन-ऋतु के अन्त में श्रमिक श्रेणी की तीन पीढ़ियों का तथा पूर्ण आकार प्राप्त नर मादा की एक पीढ़ी का जन्म हो चुका होता है और वे प्रौढ़ हो चुके होते हैं तो उस गृह में विघटन का वातावरण उत्पन्न होता है। यदि कुछ इल्लियाँ उस समय तक कोष्ठकों में विद्यमान रह गई होती हैं तो श्रमिक बर्रे उनकी भावी विपत्ति का अनुमान कर विवर से बाहर फेंक आती हैं जिससे अन्य जन्तु शीघ्र खाकर उनका अन्त कर दें। यदि वे विवर की अट्टालिका में ही कोष्ठकों में पड़ी रह जायँ तो उन्हें कोई आहार देने वाला न रहने से धीरे-धीरे अधिक समय तक निराहार रहकर दम घुटकर मरना पड़े। यह विवर के समस्त प्राणियों के मृत होने की घड़ी होती है जिसकी भूमि का स्वरूप वहाँ विद्यमान इल्लियों को लम्बी मौत की यातना के स्थान पर शीघ्र मौत का ही दुख सहन कर लेने के लिए बाहर फेंक दिया जाता है।

विवर से सारा प्राणि-समूह पृथक् हो जाता है। श्रमिक मृत हो जाते हैं। नर बर्रे भी इसी गति को प्राप्त होते हैं। मादाओं की भी अधिकांश रूप में यही अवस्था होती है। वे मृत हो जाती हैं, परन्तु शीत के प्रकोप या भयानक मृत्यु प्राप्त होने से कुछ मादाएँ भी रह जाती हैं। कहीं दरारों में पड़ी वे शीतकाल काट ले जाती हैं, शीतकालीन दीर्घ निद्रा के बाद वसंत के आगमन पर वे पुनः बाहर आती हैं। वे नया संसार बसाती हैं।

यही इक्की-दुक्की बची मादाएँ नए विवर का निर्माण कर हजारों बर्रे उत्पन्न करने में सफल होती हैं। भावी उप-निवेश के लिए ये ही रानी बनती हैं। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि बर्रे अपने विवर में शीतकाल कभी भी व्यतीत नहीं

करती। वहाँ सुगम आश्रय अवश्य रहता है। किन्तु उसका लाभ न उठाकर, उस पुरातन रचना को सर्वथा उजाड़कर बाहर ही कहीं आश्रय प्राप्त करती हैं। वसंत में जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ने वाली मादा सहस्रों बर्रे की जननी बनने वाली होती है। यदि बर्रे के प्रसार से बचना ही हो तो माली इनको वसंत में मारकर इनका उपनिवेश स्थापित होने का अवसर नहीं दे सकते।

वैज्ञानिकों ने अपनी आँखों से इस बात की परीक्षा की है कि श्रमिक बर्रे अपने उपनिवेश या अन्त समय जानकर बची-खुची इल्लियों को बाहर फेंक आती हैं। एक वैज्ञानिक ने कई उपनिवेशों का निरीक्षण किया। एक में तो सभी प्राणी बाहर हो चुके थे। उसने उस उपनिवेश से बर्रे को बाहर आते देखा किन्तु खुदाई करने पर वह उपनिवेश पूर्ण उजाड़ मिला। दूसरे उपनिवेश में कुछ बर्रे बाहर आ रही थीं। उनमें से प्रत्येक कोई वस्तु ढो रही थी, एक को उसने पकड़कर देखा तो वह उपनिवेश से इल्ली लेकर बाहर आ रही थी।

कभी-कभी बर्रे विवर न बनाकर किसी धन्नी पर या छप्पर के नीचे अपना नीड़ बनाती है। ऐसी अवस्था में उसके नीड़ या गृह का बाह्य तल अधिक सुन्दर होता है। भूगर्भीय गृह की अपेक्षा इसके निर्मायक खण्ड अधिक सूक्ष्म छिद्रमय या प्रवेश्य होते हैं।

बर्रे के सम्बन्ध में डंक मारने का स्वाभाविक गुण मानकर उसे आततायी समझा जाता है। परन्तु वैज्ञानिकों की धारणा दूसरी ही है। उनका निष्कर्ष यह है कि यह अकारण डंक नहीं मार सकतीं। विवश होने पर ही यह डंक मारती है। एक बार डंक मार लेने पर उसके डंक का काँटा आक्रान्त जीव के अंग में फँसा रह जाता है। कभी-कभी बर्रे की विष-थैली पूर्णतया डंक के साथ ही नुचकर पृथक हो जाती है। अतएव ऐसे अङ्ग-भङ्ग के कार्य का आभास

कोई जीव अनायास कैसे कर सकता है। अपने गृह की रक्षा के लिए यह अवश्य ही अपने प्राणों की चिन्ता भी छोड़कर शत्रु पर डंक का प्रहार अवश्य करती है।

वैज्ञानिकों का तो यह भी कथन है कि बर्रे को मधुमक्खी की भाँति पाला जा सकता है। बल्कि वह उससे अधिक निरापद होती है। प्रत्यक्षदर्शी वैज्ञानिकों का कथन है कि तुरन्त ही सिगरेट पीकर या कोई भी गंध प्रयोग कर मधुमक्खी के छत्ते के निकट होकर जाने से वह आक्रमण करती है। रूमाल में इत्र लगाकर जेब में रक्खे होने पर भी उनका आक्रमण हो सकता है। परन्तु बर्रे ऐसा नहीं करतीं।

मोनेडुला सिगनाटा नाम का एक सुन्दर पक्षधारी कीट होता है, जिसका आकार बर्रे समान ही होता है। उसी के समान इसके वक्षस्थल तथा उदर पर मोटे काले धब्बे होते हैं। इसका मुच्छवत् बाल ऐंठनयुक्त होता है इससे प्रमाणित होता है कि यह बर्रे का दूर का सम्बन्धी है। इसके विवर बलुहे कगारे में बने होते हैं जो नदी के ऊपर बढ़े होते हैं। अतएव साधारण यात्री को वे नहीं दिखाई पड़ सकते। यह सौभाग्य की ही बात है कि मोनेडुला सिगनाटा एक ऐसे भयानक आततायी कीट को अपने विवर में सञ्चित करता है जिनसे आमेजन के निकटवर्ती निवासियों को महान क्लेश पहुँच सकता है। यह आततायी कीट मोटुका मक्खी है।

मोटुका मक्खी एक मामूली आकार का तुच्छ कीट है। हमारी घरेलू मक्खियों से भी छोटा ही आकार होता है। उसका रंग भूरा काला होता है तथा पङ्ख भस्मीय भूरे रंग के होते हैं। केवल उनके छोरों पर श्वेत धब्बे होते हैं। इस मक्खी के पास एक बड़ा प्रबल अस्त्र होता है जिससे यह आहार प्राप्त करती है। जब कभी यह

मनुष्य पर आक्रमण कर सकती है, यह उस पर जोर से टूट पड़ती है और त्वचा पर बैठ जाती है तथा पलमात्र में एक तीक्ष्ण धार की नन्हीं बर्छी भोंक देती है। त्वचा कट कर रक्तस्राव होने लगता है। कुशल यह है कि रक्तस्राव कष्टप्रद नहीं होता। कदाचित रक्त बहने के साथ मक्खी का विष भी बाहर हो जाता हो।

मोटूका मक्खी बड़ी भद्दड़ होती है। उसे उँगलियों द्वारा सहज पकड़ा जा सकता है। पैर से गुल्फ (टखनों) के पास दर्जनों मोटुका को बैठे पाया जा सकता है।

मोनेडुला कीट इस मक्खी का बहुसंख्यक संहार करता है। अपना शिकार प्राप्त करने के लिए वह आधे मील की दौड़ लगा सकता है किन्तु उस अभियान के पूर्व वह अपने विवर का मुँह बन्द कर जाना नहीं भूलता। लौटने पर विवर का मुँह फिर खोल लेता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मोटुका मक्खी मनुष्य के शरीर पर बैठ कर काटने ही वाली है कि उधर मोनेडुला कीट उड़ता आ धमकता है और मक्खी को ले भागता है। यह मक्खी को मुख से नहीं पकड़ता बल्कि पहले और दूसरे जोड़े परों से पकड़ता है।

बैम्बेक्स सिलिमाटा नामक कीट बड़े ही मनोयोग से अपना विवर बनाने के लिए प्रसिद्ध है। यह हरे रंग का कीट है। विवर बनाने के लिए उपयुक्त स्थान चुन कर यह बलुही मिट्टी इस प्रकार तीव्रता से खुरचने लगता है कि उसके पीछे धूल का फौवारा उठने लगता है। दो या तीन इञ्च गहराई में विवर खोदते रहने पर भी ऊपर चारों ओर मिट्टी के कण उड़ कर गिरते रहते हैं। ऐसा ज्ञात होता है मानों कोई इञ्जिन भीतर काम कर मिट्टी ऊपर फेंकता जा रहा है।

बेम्बेक्स सिलिपाटा का विवर सदा तिरछा खुदा होता है। जब

विवर की २ इञ्च तक गहरी पूर्ण खुदाई हो जाती है तो यह उससे बाहर निकल आता है, इधर-उधर घूमकर स्थान का अवलोकन सा करता है। फिर उड़ कर लुप्त हो जाता है। कुछ समय बाद कोई मक्खी पकड़ कर वह लौटता है जो उसके नवजात शिशु का आहार हो सकती है। प्रत्येक विवर में एक मक्खी रखता है तथा उसमें अंडे देकर उसका मुख बन्द कर देता है जिससे वह विवर आस-पास की भूमि से भिन्न न ज्ञान पड़े। यह उल्लेखनीय बात है कि विवर चाहे जितने खुदे हों तथा वे चाहे जितने निकट-निकट हों, परन्तु जिस कीट का जो विवर उसका खोदा होता है, उसी में मक्खी रखता है। दूसरे विवर को अपना समझने की भूल कभी नहीं कर सकता। वह मक्खी लेकर सदा उसी स्थल पर आता है जहाँ वह अपनी भावी संतान के लिए विवर खोदे होता है।

चींटा

भारत की फोर्मिका कम्प्रेस्सा नामक चींटा कभी-कभी धरातल से ऊपर पत्तियों और वृक्षों में आबद्ध मिट्टी का गृह बनाता है, परंतु अधिकांशतः भूमि में ही विवर बनाता है। इसके विवर में पाँच-छः द्वार हो सकते हैं जो किसी पत्थर, मिट्टी के ढेले या किसी अन्य वस्तु के नीचे ऐसे छिपे होते हैं कि उनका पता नहीं चल पाता। विवर में ऊपर की ओर अनेक सुरंगें या दालानें अव्यवस्थित रूप की होती हैं। वे प्रायः टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। वे अधिक लम्बी नहीं होतीं। अधिक नीचाई की सुरंगें अधिक व्यवस्थित होती हैं। धरातल से तीन-चार फुट नीचे उनका व्यास बड़ा होता है। वे नलिकाकार होती हैं तथा बहुत दूर तक फैली होती हैं। चींटे का इतना छोटा आकार होने पर भी इसके विवर का व्यास कभी-कभी एक इञ्च होता है तथा पाँच फुट से अधिक लम्बाई होती है। इन्हीं गहरी

सुरंगों में उष्णदेशीय चींटा वर्षा काल में विश्राम करता है। शीत-देशों में यह चींटा शीतकाल में अपने विवर में विश्राम करता है।

भूतल के निकट सुरंगों का प्रसार होकर बड़े कक्ष का रूप बना देखा जा सकता है। उन्हीं कक्षों में चींटा अपने श्वेत अंडे देती है जिससे वे सूर्य की उचित गर्मी पा सकें और बहुत अधिक उष्णता का भी सामना न करना पड़े। यदि रात को वर्षा होने लगे तो चींटियाँ अपने अंडे-बच्चों को उठाकर निम्नतर विवरों में ले जाकर सुरक्षित रखती पाया जाता है।

चींटे के विवर में कुछ भुनगे पाए जाते हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं पाये जाते। उनका चींटों के विवर में निवास विचित्र सहयोग प्रकट करता है। यदि विवर खोदा जाय तो वे भुनगे भाग कर सबसे दूर ही सुरङ्ग में पहुँचने का उद्योग करते हैं किंतु चींटे उनका निरीक्षण करते रहते हैं और उन्हें ठीक स्थान पर ही पुनः पहुँचाते हैं।

विवर-निर्मायक गुबरैला

गुबरैले की अनेक जातियाँ होती हैं। इनमें प्रायः अधिकांश कीटों में विवर खोदने की जो वृत्ति होती है उसके द्वारा निर्मित विवर का उपयोग उनके अपने जीवन के लिए कदाचित ही होता है। उसका मुख्य उपयोग शिशु-उत्पादन और पोषण के लिए ही होता है। ऐसे गृह या तो माता-पिता द्वारा शिशुओं के लिए निर्मित होते हैं या शिशु स्वयं ही अपनी प्रौढ़ावस्था आने के पूर्व की अवस्थाएँ पार करने और अपना कायापलट करते रहने के लिए बना लेते हैं। यदि माता-पिता ने ही विवर बनाकर उसमें अंडे के साथ खाद्य रख दिया तो उससे उत्पन्न शिशु भीतर ही बन्द रह-कर अपना पोषण करता रहता है किंतु उसको इन व्यवस्थाओं के करने

वाले माता-पिता के दर्शन कभी नहीं हो सकते। अंडे से नवजात शिशु इल्ली अवस्था में होते हैं जो कभी स्वयं भी अपने लिए विवर बना लेते हैं तथा स्वयं ही आहार प्राप्त कर प्यूपा अवस्था तक पहुँचते हैं। उस अवस्था में दीर्घ शयन कर खाल उतार कर वे प्रौढ़ावस्था का नवजीवन प्राप्त करते हैं।

गुबरैला की जातियों में इल्ली के लिए माता-पिता द्वारा ही विवर तथा खाद्य की व्यवस्था होते पाया जाता है।

व्याघ्र गुबरैला छोटे आकार का होकर भी बड़ा सुन्दर रूप रखता है। यह बड़ा भयानक भी होता है। अपने पैर तथा पंखों का बड़ी तीव्रता से प्रयोग कर सकता है। दौड़ने या उड़ने में यह इतना वेगगामी होता है कि पहचाना भी नहीं जा सकता। भूमि पर उतरते और फिर उड़ जाते देर नहीं लगती। धूप में उड़ते रहने पर इसके उदर का रङ्ग हीरे की भाँति जगमगाता रहता है। यह विकट विवरनिर्मायक शक्ति रखता है। यह अपनी प्रौढ़ावस्था की विकट क्रियाशीलता का कुछ आभास इल्ली स्थिति में भी दे देता है।

व्याघ्र गुबरैला रेतीले तटों पर पाया जाता है। योरोपीय देशों में यह कभी वृक्षों पर नहीं देखा जाता। भूतल पर ही जीवन व्यतीत करता है, परन्तु अमेरिका में इसकी जाति वृक्षचारी ही होती है। योरोपीय जाति के गुबरैले तो भूमि का भी वह भाग पसन्द नहीं करते जहाँ घास या छोटे पौधे उगे हों। साए की इसे तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। धूप में झुलसती भूमि पर यह दौड़ता रहता है।

व्याघ्र गुबरैला की इल्लियाँ विचित्र जंतु हैं। रंग श्वेत-सा होता है, विचित्र रूप होता है। सिर बड़ा होता है और शृंगीय रूप का होता है। शरीर के आठ फंक कूबड़ की भाँति उठे से होते हैं। यह

कभी भी धरातल के ऊपर नहीं दिखाई पड़ती, केवल जबड़ा तथा शृंगीय सिर ऊपर दिखाई पड़ सकता है। यह लम्बवत् विवर में रहती है जो एक फुट गहरा होता है। उसमें नीचे-ऊपर तीव्र चल सकने में यह समर्थ होती है। उसकी केवल इतनी ही चौड़ाई होती है कि इसका शरीर ऊपर-नीचे हो सके।

व्याघ्र गुबरैला की इल्ली हिंसक होती है। उसका मुख्य आहार कीट हैं। एक स्थान में बँधा सा रहने की विशेष असुविधा में पड़े
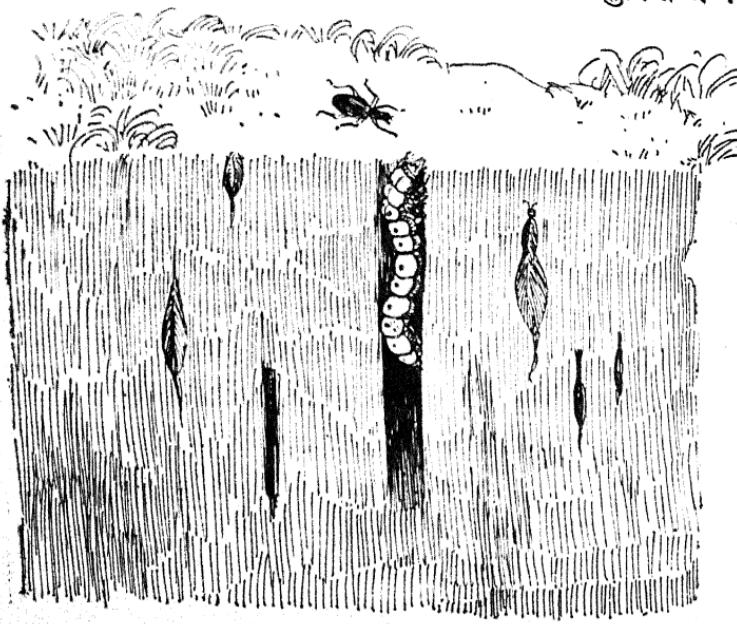
व्याघ्र गुबरैला

होने पर भी यह अपने आहार के लिए कीट पकड़ लिया करती है। आहार प्राप्त करने का इसका ढङ्ग विचित्र है। अपने विवर के ऊपरी भाग में चढ़कर यह अपने शरीर के ऊपर स्थित अंकुशों से

अवलम्ब लेकर रुकी पड़ी रहती है और अपना जबड़ा धरातल के बराबर कर लेती है। इस स्थिति में रहने पर यह अदृश्य ही रहती है। ज्योंही कोई कीट उधर से जाता है, उसे यह अपने हँसियानुमा जबड़े से तुरन्त पकड़ लेती है और उसे घसीटकर निचले तल में ले जाती है। वहाँ उसे खा डालती है। यह केवल हिंसक ही नहीं होती, बल्कि अपनी शक्ति के अनुसार संघर्ष भी कर सकती है। यदि इसके विवर में कोई तिनका डाला जाय तो उस पर झपटकर ऐसे जोर से पकड़ लेती है कि तिनका बाहर खींचने पर वह स्वयं भी लटकी चली आ सकती है। परन्तु छोड़कर अपनी प्राणरक्षा का प्रयास नहीं करती।

व्याघ्र गुबरैले की इल्ली का विवर स्वयं उसी का बनाया होता है, माता पिता उसके विवर की व्यवस्था नहीं करते। इसके बनाने में कुछ समय लगा होता है। पैर तथा जबड़े से यह मिट्टी शिथिल कर लेती है और उसे अपने चौड़े सिर से बाहर फेंकती है।

गुबरैले की एक जाति भूतलगर्भी होती है जो अपनी भावी सन्तान के लिए विवर बनाती है। यह गुबरैला किसी मृत जन्तु को पाकर भूतल में समाधिस्थ करने का प्रयत्न करता है जिसके पूर्व अपने अंडे देकर ऊपर से भली-भाँति ढक देता है। मृत चूहा, मृत पक्षी आदि कहीं नर्म भूतल पर पड़ा रहने पर इन गुबरैलों की क्रियाशीलता देखी जा सकती है। शिकार को पाकर कभी दिन को ही ये गुबरैले आ धमकते हैं। किन्तु रात ही इनकी विशेष क्रियाशीलता का समय है। दूर से उड़ते हुए मृत जन्तु के स्थल पर इनका आगमन हो जाता है। यदि कोई मृत चिड़िया तड़के ही मिल जाय तो कुछ समय में वह आधी समाधिस्थ हुई देखी जा सकती है मानो भूमि ही दबकर उसे नीचे धसाती जा रही हो। कभी-कभी यह स्थानान्तरित भी कर ली जाती है जो एक या दो

भुनगों के प्रयत्न का फल हो सकता है। यदि मृत चिड़िया को कौशल से भूमि से गड़ी एक नन्हीं ठेलागाड़ी से खिलौने पर धरातल के बराबर तल पर रखा जाय जिससे गुबरैले भी साथ ही साथ हटाकर शीशे के बर्तन में रख दिए जायँ तो उनका कृत्य देखा जा सकता है।

दिन को अधिकांशत: गुबरैलों को निष्क्रिय ही पाया जायगा। किन्तु सन्ध्या होते ही वे क्रियाशील हो उठेंगे। एक विवर खोदना और फिर उसमें मृत चिड़िया को घसीट लेना तो उनकी शक्ति के बाहर की बात होगी। अतएव वे दूसरी युक्ति करते हैं। वे पक्षी के नीचे खुदाई कर पहुँच जाते हैं और जब तब मिट्टी हटाते रहते हैं। पक्षी के चारों ओर घूम लेते हैं। उसके ऊपर भी चढ़कर अपने कार्य का अवलोकन सा कर लेते हैं। फिर लुप्त होकर अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं। कभी वे एक पार्श्व में बहुत अधिक खुदाई कर लेते हैं। फिर घबड़ा कर चारों ओर दौड़कर पक्षी के ऊपर चढ़कर उसे नीचे दबाते से हैं। इधर-उधर खींचते भी हैं। फिर पक्षी के नीचे जाकर खुदाई कर बड़ा छेद बना लेते हैं जिसमें पक्षी धस जा सके।

ऐसे कार्यों में लगाने का समय पक्षी या गाड़ी जाने वाली वस्तु पर निर्भर करता है किन्तु साधारणतया एक छोटे पक्षी या चूहे को मिट्टी में गाड़ने में एक दिन की खुदाई आवश्यक होती है। कार्य पूर्ण हो जाने पर गुबरैला उस मृत जन्तु के ऊपर कई अंडे देकर उसे ऊपर से मिट्टी डालकर समाधिस्थ कर देता है और उड़ जाता है। कहीं-कहीं मृत जन्तु एकत्र समाधिस्थ किए जाते हैं। एक प्रयोग में थोड़ी जगह में ही चार मेंढक, तीन पक्षी, दो मछलियाँ, एक छछून्दर तथा दो टिड्डे समाधिस्थ किए पाए गए। इसके अध्यवसाय का नमूना ऐसा मिलता है जिसमें गुबरैले द्वारा एक

छछून्दर को दो दिन में समाधिस्थ करते पाया गया। छछून्दर का आकार गुबरैले का चालीसगुना होता है अतएव इतने बड़े जन्तु के समाधिस्थ करने में कितना श्रम करना पड़ा होगा, इसका सहज अनुमान किया जा सकता है।

बलुही मिट्टी में गुबरैले द्वारा मृत जंतुओं को धँसाने की उपमा कुएँ की दीवाल या पुल का पाया भूमि में धँसाने से दी जा सकती है। ईंटे का कुछ स्तम्भ या नींव निर्माणकर नीचे से मिट्टी खोदी जाती रहती है जिससे वह भूमि में धीरे-धीरे नीचे धँसती जाती है। इसी तरह हम गुबरैले को नीचे की मिट्टी खिसकाकर बड़े आकार के भी मृत जंतु धँसाते पाते हैं जिसे वे अपनी इल्ली का सुरक्षित रूप में आहार बनाने की योजना करते हैं।

एक दीर्घकाय गुबरैला चमकीले लोहे के कवच समान चमकीला शरीर रखता है। उसे गोबर का गुबरैला कहते हैं। वास्तव में यही जन्तु शुद्ध गुबरैला नाम से पुकारा जाना चाहिए क्योंकि गोबर या अन्य जंतुओं के मल को यह गोली रूप में बनाकर अपनी इल्ली के लिए विवर में बंद करता है। उसी के अंदर अंडे देकर विवर का मुख ऊपर से बन्द कर देता है। यह बड़ा ही स्वच्छ शरीर रखता है। इसके द्वारा मल और गोबर स्पर्श किए जाने पर भी उन वस्तुओं की मलिनता या गंध इसमें नहीं पाई जा सकती। एक कण मल भी कभी इसके शरीर में चिपका पा सकना कठिन है। धब्बे का तो नाम ही नहीं रहता। केवल गोल आकार और पीले रङ्ग का एक परोपजीवी कीट विजातीय रङ्ग रूप में इसके शरीर में चिपका मिलता है।

कहीं भी गोबर या मानव उत्सर्जित मल की उपस्थिति पाकर यह पता नहीं किस भाँति आकाश में उड़ते आ पहुँचता है मानों इसे इन वस्तुओं का ज्ञान कराने वाली कोई छठीं ज्ञानेन्द्रिय है

जिसका मनुष्यों में सर्वथा अभाव पाया जा सकता है। कोई न कोई अद्भुत शक्ति इसमें अवश्य ही है जिससे वह बहुत दूर से भी अपने शिशु के भोजन की वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। सूँघने की शक्ति या अन्य प्रभाव से यह कोई वस्तु, गोबर, मल आदि को कहीं पड़ा जानकर चक्कर मारता आ पहुँचता है। उड़ान का चक्कर छोड़कर तुरन्त उस स्थल पर आ जाता है जहाँ वांछित वस्तु है।

भूमि पर बैठते ही गुबरैला भूमि के अन्दर प्रविष्ट होने लगता है। इस प्रकार वह आदमी की उँगली घुसने योग्य चौड़ा छेद बना लेता है। इस लम्बवत छेद की गहराई आठ इञ्च होती है। मल या गोबर के ऊपरी तल पर चढ़कर यह गोबर या मल का एक भाग हटाता है और अपने विवर में पहुँचाता है तथा उस पर अंडे दे देता है। ऐसी क्रिया वह अपनी शक्ति रहने तक बार-बार करता रहता है।

साधारण गुबरैले द्वारा अपने अंडे देने के लिए एक मामूली छेद बना लेना और उसमें गोबर या मल की गोली रख आना कोई बहुत कौशल का कार्य नहीं कहा जा सकता, परन्तु एक कुशलता का कार्य कर दिखाने वाला भी गुबरैला होता है। इसे मिस्र का स्कैटेबियस गुबरैला कहा जाता है।

वांछित खाद्य-पदार्थ का पता लगते ही मादा स्कैटेबियस गुब-रैला वहाँ उड़कर पहुँचती है और कार्यरत हो जाती है। यह पहले भूमि में एक यथेष्ट गहरा लम्बवत विवर बनाती है। फिर गोबर पर वापस आकर यह अपने कार्य के लिए यथेष्ट मात्रा पृथक करती है। उसी के अन्दर अंडे दे देती है और उसे एक मामूली गेंद रूप का बनाती है। यह मादा का ही कार्य होता है। गोली बनाकर मादा एक विचित्र कार्य प्रारम्भ करती है। गोली को अपने पिछले पैरों में पकड़ कर यह उसे धूप में ढकेल ले जाना प्रारम्भ करती

है। यह उसे अपने खोदे हुए विवर के अन्दर नहीं ले जाती, बल्कि उसी स्थान पर पड़ा रहने देती है। यदि वर्षा का आगमन हो जाय या संध्या को गोली बनी हो तो वह उसे ढकेलना बन्द कर देती है, और दूसरे दिन प्रातः उसे ढकेलने का कार्य प्रारम्भ करती है। कभी-कभी दो गुबरैले भी उसे साथ ही ढकलते हैं। ऐसे रूप में ढकलने से दो लाभ होते हैं। सूर्य की किरणों के कारण अंडे का विकास शीघ्र होता है। दूसरे गोली के ऊपर एक सूखी तह पड़ जाती है जिसके अन्दर अंडा विश्राम करता है।

गोबर की गोली यथेष्ट दूरी तक ढकेले जाने के बाद बिल में पहुँचाई जाती है और ऊपर से मिट्टी छोड़ दी जाती है। कुछ ही समय में अंडे से श्वेत शिशु इल्ली रूप में निकलता है और इस नन्हीं दुनिया के अन्दर ही खाद्य पा जाता है। उसकी पूर्ण मात्रा समाप्त कर वह विकसित होता है।

सिटारिस न्यूरालिस नाम का भुनगा अपनी इल्ली के लिए
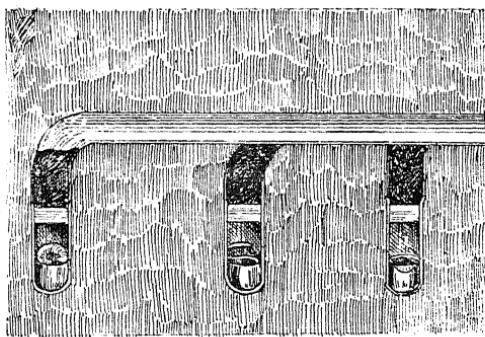
भुनगे की पोषण-व्यवस्था

खाद्य वस्तु की व्यवस्था करने में सबसे चतुर कहा जा सकता है।

यह आहार प्राप्त करने के लिए एक दूसरे कीट ऐंथोफोरा पिलिफेरा के भंडार पर डाका डालता है। यह कीट तो अपनी इल्ली के लिए खाद्य संचित किये होता है किन्तु सिटारिस भुनगा उसकी ताक में रहता है। किसी कृत्रिम या प्राकृतिक खड़ी दीवाल या कगारे, ढूहे, खड्ड या गुफा में छिद्र कर लेता है जिसमें कई कोष्ठक बना लेता है। प्रत्येक कोष्ठकों को मधु से भर देता है और उसमें एक-एक अंडा दे देता है। वह अंडा मधु के उस भण्डार में तैरता रहता है। फिर कोष्ठकों को ऊपर से बन्द कर देता है।

सिटारिस न्यूरालिस इस बने-बनाये खेल द्वारा अपनी इल्ली का पोषण कराने के लिए लालायित रहता है। सिटारिस न्यूरालिस भुनगे की मादा ऐंथोफेरा के कोष्ठों में अंडे दिये होती है। उनसे इल्ली उत्पन्न होती है। ऐंथोफोरा का संतानोत्पादन काल होने पर दो इल्लियाँ पहले नर ऐंथोफेरा के पङ्खों से चिपक जाती हैं। उनके शरीर से गिरकर मादा ऐंथोफेरा के शरीर पर आती हैं। फिर उसके कोष्ठक में जाकर अंडा देने के ठीक समय ही अन्दर गिर जाती हैं इस तरह कोष्ठक के अन्दर मधु पूर्ण तथा सुरक्षित स्थान उन्हें प्राप्त हो जाता है। वह मधु में न गिरकर सिटारिस के अंडे के ठीक ऊपर ही गिरती है जिससे डूबने से बच जाती है। उस समय तो वह मधु खाने में भी असमर्थ होती है। इसलिए पहले सिटारिस के अंडे को ही निर्द्वन्द होकर खाती और पुष्ट होती है। बाद में सारा मधु-भंडार उसी के आहार के लिए सुलभ होता है। आठ दिन में केंचुल उतारने पर वह मधु खाने योग्य हो जाती है।

छछून्दर-झिल्ली

विचित्र झंकार शब्द करने के कारण छछून्दर-झिल्ली या झींगुर नाम का कीट प्रसिद्ध है। यह विचित्र कीट है। यह छछून्दर

की तरह सारा जीवन भूमि के नीचे ही व्यतीत करता है। अपने फावड़ानुमा पैर से यह लंबा विवर खोद लेता है। उसके अंदर यह तीव्र गति से चलता फिरता है। यह छछून्दर के ही समान लड़ाकू और भयानक होता है। यह अपने सजातीय कीट से भी संघर्ष कर बैठता है। यदि प्रतिद्वन्दी पराजित हो जाय तो उसका शरीर चीर-फाड़ डालता है। छछून्दर की तरह यह इतना भारी भुक्खड़ भी होता है कि यदि एक ही पिंजड़े में कई एक निराहार बंद कर दिये जायँ तो अपेक्षाकृत बलवान झिल्ली दुर्बलतम झिल्लियों पर आघात कर उन्हें खा जायगा। छछून्दर के विवर की तरह इसके विवर भी निचले तल की मिट्टी में बने होने से उसमें जल के प्रवेश का अवसर देते हैं। किन्तु बाटिकाओं में पेड़-पौधों की जड़ें काट कर उसको भारी हानि भी पहुँचाते हैं। जमैका में रहने वाली एक जाति का झिल्ली ईख के पौधों को भारी हानि पहुँचाता है।

झिल्ली का सारे संसार में प्रसार है तथा प्रत्येक भूभाग में इसे पाया जा सकता है। यह कहीं शिथिल बलुही मिट्टी में पाया जाता है तो कहीं घास-पात उगे स्थानों में स्थान बनाए होता है। घास की जड़ों से जो मिट्टी बँधी होती है उसी के मध्य यह अपना विवर बनाना चाहता है। मिट्टी अधिक शिथिल होने पर यह इतनी गहराई में विवर बनाता है कि उसे फावड़े द्वारा खोद कर पा सकना कठिन हो। इसे पकड़ने की सहज विधि यह होती है कि दिन को उसके विवर को चिह्नित कर लिया जाय और संध्या को वहाँ पहुँचा जाय, जब यह रात्रिजीवी वृत्ति के कारण क्रियाशील हो उठता है उस समय एक लम्बी घास का टुकड़ा उसके विवर में डाला जाता है। उसके सिरे को झिल्ली इतनी जोर से पकड़ लेता है कि घास को बाहर खींचते ही उसके साथ वह भी बाहर घसिट आता है।

झिल्ली मांस, कीट, वनस्पति आदि सभी पदार्थों को आहार बना सकता है। इसके विवर में छछून्दर की तरह साधारण सुरंगों से पृथक निवास-विवर होता है। साधारण विवर अनेक दिशाओं में चारों ओर भूलभुलैयां सा फैला होता है। धरातल के निकट एक बड़ा कक्ष बना होता है। उसका व्यास तीन इञ्च और ऊँचाई एक इंच होती होगी। यह कक्ष बड़ा स्वच्छ बना होता है। दीवालें भी बहुत चिकनाई होती हैं। इसी कक्ष में मादा झिल्ली अंडे देती है, जिनकी संख्या दो से तीन सौ तक होती है। यह कक्ष धरातल के बहुत निकट होता है। इस कारण उसमें सूर्य की यथेष्ट किरणें पहुँचती हैं जिससे अंडे सेए जा सकें। उन अंडों से झिल्ली की आकृति के किन्तु छोटे-छोटे श्वेत शिशु उत्पन्न होते हैं। केवल पंखों का उनमें अभाव होता है। तीसरे वर्ष तक वे प्रौढ़ावस्था नहीं प्राप्त करते।

काष्ठछेदक झिल्ली

एक झिल्ली काष्ठछेदक होता है। इसका रूप काष्ठछेदक भुनगे समान होता है। शरीर लम्बा और बेलनाकार होता है, पैर बहुत छोटा होता है, उसके शरीर के पार्श्व भाग के आखात में पैर सटे होते हैं। यह बड़ा ही बेडौल दिखाई पड़ने वाला कीट है। इसका काला शरीर तीन इंच लंबी काले सीसे की पेंसिल बराबर होता है।

एक काला मैदानी झिल्ली होता है जो मैदानों में यथेष्ठ लम्बे विवर बनाकर रात को उसी में पड़ा रहता है। रात को वह विवर से निकल कर उसके मुख पर बैठा रहता है और घंटों झंकार करता है। सड़क के किनारे के बाँध इसके प्रिय निवास स्थल हैं। यह भी छछून्दरझिल्ली की तरह बड़ी लड़ाकू वृत्ति का होता है।

विवर के अंदर एक घास का डंठल डालने पर यह उसे पकड़ लेता है और उसी के साथ बाहर खींच लिया जा सकता है। कहा जाता है कि फ्रांस में एक तागे में चींटा बाँध कर इसके विवर में लटका दिया जाता है। यह उसे जोर से पकड़ लेता है, अतएव तागा ऊपर खींच लेने से यह भी ऊपर सहज ही खिंच आता है।

मस्सा-मर्दक (वार्ट-बाइटर)

वार्ट-बाइटर या मस्सा-मर्दक नाम का एक कीट इस लिए कहा जाता है कि उसके काटने से मस्सा नष्ट हो जाने का विश्वास किया जाता है। इसके शरीर के अंत में एक दुहरे फलक का उपकरण होता है जिसे अंडस्थापक कहते हैं। यह विचित्र उपकरण मादा में ही पाया जाता है। यह अपेक्षाकृत अधिक लंबाई का होता है और अंडे को उपर्युक्त स्थल में रखने के लिए उपयुक्त होता है। इस अंग के दोनों फलक संयुक्त किए जाने पर खुदाई का अच्छा अस्त्र बनते हैं किन्तु जब वांछित विवर खुद जाता है तो इसके फलक पृथक-पृथक हो जाते हैं जिससे एक अंडा उनके मध्य होकर गिरने लगता है और उपयुक्त स्थान पर रक्खा जा सकता है। यह कीट एक ही स्थान पर अनेक अंडे नहीं रखता है बल्कि दस या बारह अंडे एक जगह जमा कर दूसरे स्थान पर चला जाता है और वहाँ नया विवर उसी अंग से खोद कर फिर दस बारह अंडे उसमें डाल देता है। अंडे का सारा भंडार समाप्त होने तक वह ऐसा ही करता जाता है। इस तरह वह अपने शिशुओं के उत्पन्न होने का स्थान विस्तृत क्षेत्रों में प्रसारित कर देता है। उन्हें किसी एक दुर्घटना से ही नष्ट होने की संभावना नहीं आने देता।

नवजात शिशु प्रायः श्वेत रंग के और बहुत छोटे आकार के होते हैं। टिड्डा भी इसी तरह का जंतु है जिसे अकस्मात कूदते रहने से

आँख में लग जाने का भय होता है अतएव उसे अँखफोड़वा भी कहा जाता है।

शलभ (टिड्डी)

शलभ या टिड्डी के बहुसंख्यक दल के आगमन से कृषि को भयानक हानि होने के कारण इसे दैवी विपत्ति कहा जाता है। यह
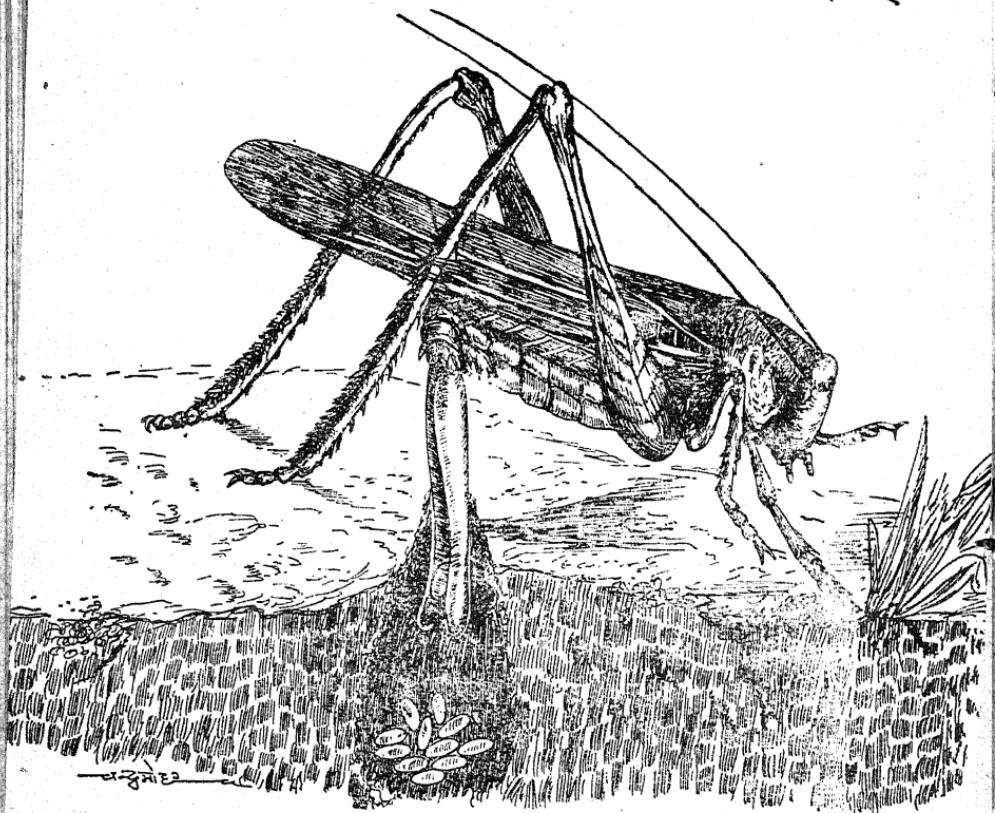
टिड्डी द्वारा अण्डादान

भी आंशिक विवरवासी होता है। यह अपने अंडे भूमि के नीचे देता है। इसके अंडे झिल्ली की तरह विवरों में दिए जाते हैं। ये विवर डेढ़ इंच गहरे होते हैं। इसका द्वार प्रायः आड़ी नली होती है जिसमें एक चिपकन रस लेप किया होता है। कभी-कभी अंडे भी इस तरह के चिपकन पदार्थ से आवेष्ठित होते हैं और एक साथ जुटे पड़े होते हैं। दक्षिणी अमेरिका में अंडों की ऐसी चिपकी ढेरियां बहुतायत से मिलती हैं। तीन वर्षों तक शिशु के पंख नहीं निकलते। उस समय तक इन्हें भूतलगामी कहा जाता है।

पंक-विवरवासी

मेफ्लाई नामक कीट की इल्ली कभी पत्थरों के नीचे रहती है, परन्तु प्रायः पंक में विवर बना कर भी रहती है। पंकिल तट पर इसके विचित्र विवर बने मिल सकते हैं।

यदि पंक का कुछ भाग सावधानी से हटाया जाय तो उसके अन्दर बहुत से छिद्र मिलेंगे। उनमें कुछ गोल होगी, किंतु अधिकांश अंडाकार होगी। ये मेफ्लाई या यूफीमेरा कीट की इल्ली के विवर होंगे। यदि पंक का भाग कर विवरों की लम्बी काट ली जाय तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक विवर दुहरी नलियों का है जो एक दूसरे से समानान्तर हैं। यथार्थ में एक ही नली को उसके ऊपर उलटने से दुहरे बने हैं।

सिंहपिपीलिका

विवरनिर्मायकों में यथार्थतः विचित्र कीट सिंहपिपीलिका कहा जा सकता है। इसके समान अन्य जन्तु का विचित्र निवास पाया जाना कठिन है। इसकी जीवन-कथा पर सहसा विश्वास भी नहीं होता। प्राकृतिक रूप में यह कुछ विचित्रता प्रदर्शित नहीं करता। केवल इसके रूप की सुन्दरता तथा चौड़े झिल्लीमय पंख

दर्शनीय होते हैं। इसका रूप दानव-मक्खी सा मिलता है, किंतु यह इल्ली स्थिति में बहुत ही विचित्र होता है। यह हिंसक तथा चपलतम कीटों का भक्षक होता है, किन्तु स्वयं आलसी और उनका पीछा करने में सर्वथा असमर्थ होता है। यदि गति की इस असमर्थता के स्थान पर इसे आखेट करने का दूसरा उपकरण न प्राप्त हुआ रहता तो यह भूखों ही मर जाता। इसका बाह्य रूप देख कर ही इसकी आखेट-शक्ति की प्रबलता पर विस्मय होता है।

इसका स्थूल, छोटा, कोमल, मांसल शरीर, छः दुर्बल पैरों पर आधारित होता है। उनमें केवल पिछले पैर ही चलने के काम आते हैं। ये इसे केवल पीछे ही धीरे-धीरे घसीट सकते हैं। इसका साधारण आकार मोटे शरीर के वाटिका-मकड़े से मिलता-जुलता है। इसके पैर इतने कृशकाय होते हैं कि चलने में वे व्यर्थ होते हैं। वे यदि कट कर पृथक हो जायें तब भी यह कीट उसी तरह रेंग सकता है जैसा उन पैरों के रहने पर रेंगता है। सिर के सामने से लम्बे, पतले तथा मुड़े हुए एक जोड़े जबड़े निकले होते हैं। उनसे पहला संकेत मिलता है कि इस कीट के पास कोई प्रबल उपकरण है। ये जबड़े विचित्र रूप के बने होते हैं। पूरी लम्बाई में उनमें दाँते से बने होते हैं। उनके भीतरी जबड़े उनके नीचे-ऊपर हो सकते हैं।

निकम्मा-सा दिखाई पड़ने पर भी यह इल्ली अधिक क्रियाशील कीटों का ध्वंसक है। बल्कि प्रबलतम क्रियाशील कीटों को छोड़ अन्य को कदाचित ही कभी पकड़ती हो। पत्थरों से शून्य बलुहे स्थल में यह गड्ढे बनाती है जिनमें यह कीटों तथा चींटों को फँसा लेती है। अपने उदर के छोर को चिपका कर और गोलाई में पीछे की ओर रेंग कर यह एक छिछला गड्ढा बनाती है। गोलाई एक से तीन इंच व्यास तक की होती है। इसी वृत्त के अन्दर वह

दूसरा-तीसरा छोटा गोला बनाकर शंकु से आकार का गड्ढा बना लेती है। उसके पेंदे में छिपकर धँस जाती है और मुख खोले रहती है। निकट से जाने वाला कोई कीट या चींटा गड्ढे के किनारे आते ही नीचे गिर जाता है। उधर वह तुरन्त उन्हें मुख के चपेट में ले लेती है। उनका रस चूस कर खोखला बाहर फेंक देती है। फिर दूसरे शिकार की टोह में बैठ जाती है। बड़ा जन्तु भीतर गिर जाने पर वह जन्तु किनारे गिरा कर ढाल कम कर भागने का उद्योग करता है, परन्तु सिंहपिपीलिका शीघ्रातिशीघ्र मिट्टी बाहर फेंक कर ढाल वैसा ही बना रहने देने का उद्योग करती है जिससे शिकार भाग न सके।